अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

मई २०१८

बुद्ध का पथ

विषय-सूची

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

प्रार्थना/सम्पादकीय		३
बुद्ध		५
बौद्ध धर्म		१५
बौद्ध तरीक़ा तथा अन्य योग		१९
'धम्मपद' के मनके		२४
'पुरोधा'		
दैनन्दिनी		४८
श्रीअरविन्द का पूर्णयोग	नारायण प्रसाद 'बिन्दु'	५२
दाता	'अखण्ड ज्योति' से साभार	५४
वह अनुपम झाँकी	वन्दना	५५

मुखपृष्ठ : चित्रकार–ऋतम्

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष–१८०रु.; तीन वर्ष–५२०रु.; पाँच वर्ष–८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

प्रार्थना

माँ, अभी और हमेशा ही मेरे साथ रहो। अपनी उपस्थिति से मुझे घेर लो। अपने स्पर्श से मुझे उन्नत और पवित्र कर दो। अपनी जीवन्त प्रतिमा के साथ मेरे अन्दर निवास करो।

समस्त अवसाद और अन्धकार को उज्जवल तथा सम्पूर्ण श्रद्धा-विश्वास में रूपान्तरित कर दो।

समस्त अशान्ति और विक्षुब्धता को पावन अचञ्चलता तथा शान्ति में रूपान्तरित कर दो।

समस्त आसक्ति को गभीर तथा निष्कलंक पवित्रता में रूपान्तरित कर दो।

माँ, मुझे मुक्त कर दो, बदल दो। अपने बालक को पूर्ण बना दो माँ!

एक शिष्य के लिए प्रार्थना —श्रीअरविन्द

सम्पादकीय : क़रीब २००० या उससे भी पहले बुद्ध इस धरा पर आये थे, लेकिन आज भी उनका प्रभाव धरती और धरतीवासियों पर प्रबल रूप से छाया हुआ है। स्वयं श्रीमाँ ने पॉण्डिचेरी आने से पहले बौद्ध योग तथा *'गीता'* का अध्ययन किया था। श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ ने प्रत्येक योग का आलिंगन किया है, अपने पूर्णयोग में प्रत्येक को स्थान दिया है। यह भी ध्यान-देने वाली बात है कि आश्रम के 'प्लेग्राउण्ड' में शाम की कक्षाओं में माँ ने *'धम्मपद'* का विस्तार से अध्ययन करवाया था। काल के संग-संग सभी योगों में परिवर्तन-परिवर्धन आये हैं, बौद्ध योग भी इससे अछूता नहीं रहा, लेकिन आज भी कई स्थानों पर इसका बोलबाला है।

इस अंक में बुद्ध की कुछ शिक्षाओं का समावेश किया जा रहा है।

श्रीअरविन्द ने कहा था :

भारत आने से पहले ही बौद्ध योग तथा गीता के योग में माताजी दक्ष थीं। उनका योग महान् समन्वय की ओर बढ़ रहा था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि वे भारत आयें। वे बहुत सहायता कर रही हैं और उन्होंने मेरे योग को मूर्त रूप दिया है। उनके सहयोग के बिना यह सम्भव ही नहीं होता।

इस योग के दो महान् चरणों में से एक है : "माँ की शरण में जाना।"

१७ अगस्त १९४१

बाद में जब किसी ने पूछा कि इसका दूसरा चरण कौन-सा है तो श्रीअरविन्द ने जवाब दिया : "भागवत जीवन के लिए साधक में अभीप्सा का होना।"

CWSA खण्ड ३२, पृ. ३६

बुद्ध

मनुष्यों को उनके दुःख-दर्द से छुटकारा दिलाने के प्रबल आवेग को ही अनुकम्पा या करुणा कहा जाता है। किसी के दुःख-दर्द को देख कर या उसके बारे में सोच कर असहाय दुर्बलता का अनुभव करना दया या तरस खाना कहलाता है। दुर्बल असहायता अनुकम्पा नहीं है, यह तरस खाना है। अनुकम्पा शक्तिशाली का पथ है, दया दुर्बल का रास्ता। अनुकम्पा से सञ्चलित भगवान् बुद्ध अपने पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धवों को रोता-बिलखता छोड़, संसार के दुःख मिटाने, अपने पथ पर बढ़ चले। धरती को समस्त कष्टों और दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए, तीव्र अनुकम्पा और करुणा से मत्त 'काली', धरती पर असुरों का विनाश कर, धरा पर उनके रक्त की बाढ़ ले आयीं, ताकि सबको दुःख से उबारा जा सके।

—श्रीअरविन्द की बांग्ला रचनाओं से

अवतार के रूप में बुद्ध

अगर अवतारवाद को क्रमविकास के साथ नहीं जोड़ा जाये तो इसका बहुत मामूली अर्थ रह जायेगा। हिन्दुओं की दस अवतारों की परम्परा भी एक तरह से क्रमविकास को ही दर्शाती है। सबसे पहले मत्स्यावतार, उसके बाद जल और स्थल के बीच का उभयचर प्राणी कूर्मावतार, फिर, स्थल का पशु वराह, फिर मनुष्य और पशु को जोड़ने वाले नरसिंह अवतार, फिर वामन-रूप में मनुष्य, जो छोटा, अविकसित और भौतिक होने पर भी अपने अन्दर देवत्व को धारण किये हुए था और सम्पूर्ण पृथ्वी पर उसका अधिकार था, उसके बाद आये राजसिक, सात्त्विक तथा निर्गुण अवतार जो मानव विकास को प्राणिक-राजसिक मनुष्य से ऊपर उठा कर सात्त्विक-मानसिक मनुष्य तक ले गये और फिर उसे अधिमानसिक अतिमानव तक पहुँचा दिया। कृष्ण, बुद्ध और कल्कि अन्तिम तीन अवस्थाओं, आध्यात्मिक विकास के स्तरों को दर्शाते हैं। कृष्ण अधिमानस की सम्भावना को उद्घाटित करते हैं, बुद्ध चरम मुक्ति के परे निकल जाना चाहते हैं, लेकिन वह मुक्ति अभी तक अभावात्मक है, यानी, वे क्रमविकास को पूर्ण करने के लिए भावात्मक रूप से पृथ्वी पर वापिस नहीं आते; इसका सुधार करते हैं कल्कि

जो विरोधी आसुरिक शक्तियों का विनाश करके पृथ्वी पर भगवान् का राज्य स्थापित करते हैं। क्रमविकास की यह प्रगति सचमुच आश्चर्यजनक है, साथ ही साथ यह निर्भ्रान्त भी है, इसमें भूल की कोई गुंजाइश नहीं है।

*

कृष्ण ने स्थिर तथा गतिशील, यानी अपनी सिद्धि के दोनों पक्षों के द्वारा अधिमानस की सम्भावना को खोल दिया। बुद्ध ने मन से निर्वाण में होकर, सीधा 'परम' में चले जाने की कोशिश की, ठीक उसी तरह शंकर ने भी उनके बाद यही प्रयास भिन्न तरीक़े से किया। दोनों ने ही अन्य अवस्थाओं को लाँघ कर, अनाम तथा अलक्षण निरपेक्ष तक पहुँचने की चेष्टा की। अगला क़दम वस्तुतः अनाम निरपेक्ष नहीं, बल्कि अतिमानस है। मुझे लगता है कि इस तरह एकदम से निकल जाने का बुद्ध तथा शंकर दोनों का प्रयास ग़लत था, उन्होंने मुक्ति के गतिशील पहलू को एकदम नकार दिया। अतः, कल्कि के द्वारा यह दोष-निवारण होकर रहेगा।
CWSA खण्ड २८, पृ. ४८७, ४८८

बुद्ध का त्याग

'एकमेव आत्मा' के दर्शन से सभी भेद तितर-बितर हो जाते हैं—अनन्त अचञ्चलता, अपार प्रेम, असीम उदारता, अपरिमित सहिष्णुता—ये हैं उस शक्तिशाली अन्तरात्मा के गुण जिसने भगवान् के दर्शन कर लिये हैं। पाप, कलुष, रोग, संसार की मलिनता इत्यादि उसके मन को दूषित नहीं कर सकते, न ही उसकी सद्भावना को हर सकते हैं; जब वह पापी को उसके उस दलदल से बाहर खींच निकालने के लिए नीचे झुकता है तो उस दुर्गन्ध से बिदकता नहीं जो स्वयं उसके हाथों को दूषित कर देती है; उसकी आँखें आँसुओं से धुँधला नहीं जातीं जब वह दुःखभोगी, विलापी पापी को उसके कष्ट और यन्त्रणा के गर्त से उबार कर बाहर खींच निकालता है, क्योंकि वह उसे ऐसे उठाता है जैसे एक पिता, कीचड़ में फिसल गये अपने पुत्र को हाथ बढ़ा कर उठा लेता है। बालक यह सोच कर कि उसे चोट लगी है, रोने का चुनाव करता है; पिता जानते हैं कि सचमुच उसे चोट नहीं लगी है, इसलिए वे दुःखी नहीं होते, न ही उसे झिड़कते हैं, बल्कि

उसे गोद में भर कर, उसके हठीले, कल्पित दुःख को सहलाते हैं। ऐसी ही अन्तरात्मा 'प्रभु' कही जाती है—बलशाली तथा सहायता और रक्षा करने को सतत तत्पर वह 'ईश्वर' दुर्बल बन कर क्रन्दन नहीं करता, अपने आँसुओं की झड़ी से मानव-अश्रुओं के समुद्र में बढ़ोतरी नहीं करता। जगत् के दुःख-कष्ट को देख कर बुद्ध रोये नहीं, वे उसका दुःख दूर करने के लिए निकल पड़े। और निश्चय ही ऐसी अन्तरात्मा उन प्रहारों से कष्ट नहीं पायेगी जो बाहरी जगत् उसके बाहरी रूप पर बरसाता प्रतीत होता है; क्योंकि भला 'वह' क्या दुःख-कष्ट भोगेगा जो यह समस्त 'विश्व' है? उसकी चेतना में वह कष्ट उससे अधिक नहीं होगा जैसे अपने उद्यान में चहलक़दमी करते उस राजा के पैरों तले एक चींटी मसल जाये जिसके कन्धों पर अनेकों राष्ट्रों की नियति टँकी हुई हो। चाहने पर भी 'वह' अपने लिए दुःखी नहीं हो सकता, क्योंकि सारे संसार का दुःख दूर करने का कार्य उसके ज़िम्मे है; उसके लिए अपना हर्ष कोई मायने नहीं रखता, क्योंकि सारे 'ब्रह्माण्ड' का हर्षानन्द उसी के इशारों पर घूमता है।
CWSA खण्ड १७, पृ. १४६

पूर्ण मनुष्य, चाहे हम उसे सिद्ध कह लें या बुद्ध, वैश्व बन जाता है, करुणा और एकता के साथ वह सभी सत्ताओं को अपनी बाँहों में घेरे रहता है, अपनी झाँकी दूसरों में भी पाता है, दूसरों को अपने अन्दर समाये रहता है, और ऐसा करके वह वैश्व ऊर्जा की कोई चीज़ अपने अन्दर सतत धारण किये रहता है। यह भारतीय संस्कृति का सकारात्मक आदर्श है।
CWSA खण्ड २०, पृ. २५४

निर्वाण एक साथ ही पथ का अन्त (जिसके परे कुछ भी खोजने के लिए न हो) और फिर केवल एक विश्राम-गृह, अथवा यों कहें कि, उच्चतर पथ का प्रारम्भ (जिसके बाद भी सब कुछ खोजना बाक़ी हो) नहीं हो सकता...। समाधान यह होगा कि यह निम्नतर प्रकृति में से निकलने के निम्नतर पथ का अन्त है और उच्चतर विकास का प्रारम्भ है। ऐसी अवस्था में हमारे योग की शिक्षा के साथ इसका ठीक-ठीक मेल बैठ जायेगा।

—श्रीअरविन्द के पत्रों से

अजन्ता का भित्तिचित्र

CWSA खण्ड २०, पृ. ३०९

बौद्ध कला की आध्यात्मिक छटा

अगर हम अजन्ता की उत्कृष्ट कृतियों को देखें तो हमारी दृष्टि बरबस माँ और बच्चे—गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा, उनके पुत्र राहुल—तथा भिक्षापात्र बढ़ाये हुए बुद्ध की कृति पर जा टँकती है। इसी को नाम दिया गया है, आराधना-कृति। आराधना की तीव्र धार्मिक भावना से ओतप्रोत है यह, उस सम्पूर्ण कृति की रूपरेखा तक में यह भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। जो चीज़ इस चित्र को गहराई प्रदान करती है वह है, मानव की अन्तरात्मा का उस सौम्य, मृदु तथा अचञ्चल अवर्णनीय के प्रति प्रेमभरा झुकाव जो बुद्ध की वैश्व करुणा के रूप में इन्द्रियग्राही और मानवीय बन कर प्रकट हो रहा है। चित्र का आन्तरात्मिक मुहूर्त है—बालक के प्रबुद्ध होते हुए मन का समर्पण, यानी, युवा मानवता का प्रेमपूर्ण उत्सर्ग, और पास खड़ी माता प्रतीक है उस अन्तरात्मा का जिसने अनूठा आध्यात्मिक हर्ष प्राप्त कर, उसे अपने हृदय में चिरस्थायी स्थान प्रदान करने का गुर प्राप्त कर लिया है। उसकी आँखें, भौहें, होंठ, आनन, मस्तक की स्थिरता, सब कुछ इसी आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत हैं, जो चैत्य उद्घाटन का सतत स्मरण दिलाती है; उसके हृदय की अनुभूति मानों सामने उमड़ी आ रही है, जो हृदय अपनी सुखद स्थिरता में प्रतिष्ठित है, जो अवर्णनीय मृदुता से लबालब भरा हुआ है; उसके मुखमण्डल का गभीर अहोभाव भी अतल गहराइयों से निकलता प्रतीत होता है, ऐसा लगता है मानों वह आनन अनन्त की अभ्यर्थना तथा आकर्षण के प्रति समर्पित है; शरीर तथा अन्य अवयव समर्पण के इसी भाव की ठोस मूर्ति लगते हैं, जब कि आगे बढ़े हुए दोनों हाथों में समाया बालक शाश्वत के प्रति पूर्ण समर्पण की मुद्रा दर्शाते हैं। मानव का शाश्वत के साथ यह सम्पर्क अपूर्व है। बच्चे की वह सुखद-सरल मुस्कान जिसमें जागृति की रेखाएँ उभर रही हैं, वे बढ़े हुए हाथ जो बालक को पूरी तरह से अपनाने की प्रार्थना में रत हैं, शरीर का वह झुकाव, वह रूपरेखा, सब कुछ इस प्रार्थना के साथ सामञ्जस्यमय है। ऐसा लगता है कि माँ और बालक अपने-आपको भूल चुके हैं, सम्मुख खड़े उन बुद्ध में खो गये हैं जो सबके आराध्य हैं, जिन पर सब ध्यान लगाते हैं, और साथ ही उत्सर्गपूर्ण वे सामने पसरे हुए हाथ, माता तथा बालक को समान क्रिया तथा भावना में बाँधे हुए लगते हैं, जहाँ माता

अपनी सम्पत्ति, अर्थात् बालक को महान् आध्यात्मिक दान के लिए प्रस्तुत कर रही है। दोनों ही रूपों में समान लय-ताल है। यह कृति भारत की कला का उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसमें सरलता के संग-संग महानता और उत्सर्ग का बेजोड़ संगम है।...
CWSA खण्ड २०, पृ. ३०९-११

बुद्ध की शिक्षा का सारांश

सम्भवतः बुद्ध की शिक्षा का सच्चा सारांश था—बाह्य रूप से 'प्रेम', 'सत्य', 'धर्मपरायणता', अर्थात्, शाश्वत सद्गुणों के कर्म करते हुए, आन्तरिक रूप से पूरी तरह से निश्चल निर्वैयक्तिकता तथा शून्य 'अचञ्चलता' में निवास करना। यह न अहंकार है, न इस भौतिक जन्म के दुःख-दर्द तथा परेशानियों से पलायन का मार्ग ही है। बहरहाल, पूर्ण मनुष्य इन दोनों में मेल बिठला कर, यानी, निश्चल-नीरवता को पृष्ठभूमि में रख कर, पूरी तरह से क्रियाशील जीवन व्यतीत कर सकता है, उसी तरह से सचेतन आत्मा, अस्तित्व तथा विश्व के साथ सम्पर्क खोये बिना, अनस्तित्व की पूर्ण स्वतन्त्रता में लौट सकती है। ऐसी आत्मा विश्व में, यानी भगवान् के निवास-स्थान में निरन्तर शाश्वत चमत्कार प्रकट करती हुई भी, हमेशा उसके परे रहती है। ... यही है, जल में कमल की तरह निवास करना। जल में रहते हुए भी जल से आसक्त न होना।
CWSA खण्ड २१, पृ. ३४

एकान्तवास का प्रेम इस बात का लक्षण है कि तुम्हारे अन्दर ज्ञान की ओर प्रवृत्ति है; परन्तु स्वयं ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब हम भीड़-भाड़ के अन्दर, संग्राम और हाट-बाज़ार के अन्दर एकान्तता का स्थायी बोध प्राप्त कर लेते हैं।

—'धम्मपद' से

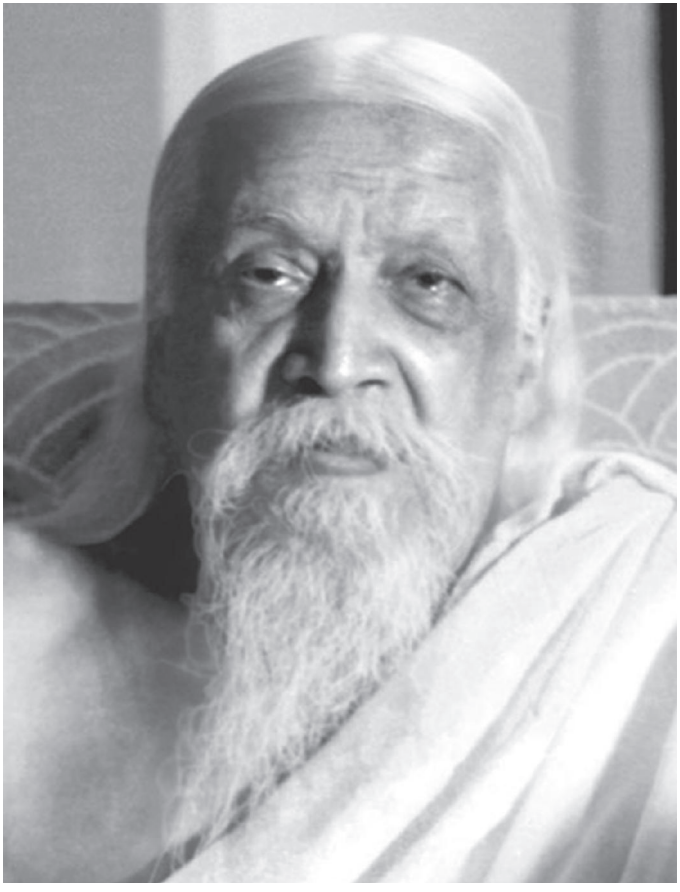

शान्त-शक्ति का वह एक सन्तुलित धीरवीर था,
जो त्रिकालीय अशान्ति पर एक विशाल अविचल दृष्टि डालता
और समस्त अनुभवों का सामना अविकारी शान्ति से करता।
वह शोक और हर्ष के प्रति उदासीन,
आश्चर्य और निमन्त्रण से प्रलोभन में न पड़ता,
पृथक् और शान्त रह सकल भूत-जगत् को सहारा देता,
अचल स्थिर भाव से वस्तुओं का प्रवाह अवलोकता :
उसकी आत्मा की स्थिरता इस श्रमरत संसार की सहायता करती।
'सावित्री' पृ. ३६ *—श्रीअरविन्द*

निर्वाण क्या है?

निर्वाण है क्या? कट्टर बौद्ध मत के अनुसार इसका अर्थ परम में विलीन हो जाना है, अन्तरात्मा का विलयन नहीं, बल्कि व्यक्ति के जटिल मानसिक संस्कारों का—जिन्हें हम भूल से अपना स्वरूप मान बैठते हैं—विलयन। मायावादी वेदान्त में इसका अर्थ है—एक मिथ्या और अवास्तविक व्यक्तिगत स्वरूप का विघटन नहीं, बल्कि एक सच्ची अन्तरात्मा अथवा ब्रह्म में उसका खो जाना। हम कह सकते हैं कि व्यक्ति एक मिथ्या ज्योति है जो जब निर्वाण को प्राप्त होती है तो सच्ची ज्योति में प्रवेश पा जाती है। आध्यात्मिक अनुभूति में कभी-कभी ऐसा लगता है कि व्यक्तित्व का समस्त भाव असीम वैश्व चेतना में विलुप्त हो गया है। वह जो व्यक्ति के नाम से जाना जाता था, मात्र एक ऐसा केन्द्र या प्रणालिका बन गया है जिसमें से होकर वैश्व चेतना, वैश्व शक्ति तथा वैश्व क्रिया बहते हैं। या यह अनुभूति भी हो सकती है कि एक परात्पर सत्ता तथा ऐसी चेतना में व्यक्तित्व की भावना लुप्त हो गयी है जिसमें विश्व और व्यक्ति, दोनों का भाव विलुप्त हो जाता है। लेकिन व्यक्ति से हमारा मतलब क्या है? साधारणतया हम जिस चीज़ को व्यक्ति के नाम से पुकारते हैं वह एक प्राकृत अहं है, प्रकृति का एक साधन है, जो प्रकृति की क्रिया को एक सीमित मन और शरीर में बाँधे रखता है। इसी अहं को विलुप्त करना होगा, अन्यथा पूर्ण मुक्ति पाना सम्भव ही नहीं है; लेकिन व्यक्तिगत स्व या अन्तरात्मा यह अहं नहीं है। व्यक्तिगत आत्मा वह आध्यात्मिक सत्ता है जिसका वर्णन कभी-कभी इस तरह किया जाता है कि यह स्वयं भगवान् का ही शाश्वत अंश है या स्वयं वह एकमेव भगवान् ही हैं जो बहु का रूप धारण करके अपनी अभिव्यक्ति को सहारा देते हैं। यही है वह सच्चा आध्यात्मिक व्यक्तित्व जो अपनी पूर्ण सच्चाई में तब प्रकट होता है जब हम अपने अहंकार और व्यक्तित्व के अपने मिथ्या पृथकात्मक बोध से छुटकारा पा लेते हैं, जब हम परात्पर तथा वैश्व भगवान् तथा विश्व की सभी सत्ताओं से एकता का अनुभव करते हैं। यह हो जाये तो दिव्य जीवन जीना सम्भव हो जाता है। निर्वाण उसकी ओर जाने का एक पग है; तब मिथ्या पृथकात्मक व्यक्तित्व लुप्त हो जाता है और हम अपनी सच्ची शाश्वत सत्ता को प्राप्त कर, उसमें निवास कर सकते हैं। लेकिन इसे हम इस जगत् में रहते हुए अपने जीवन में चरितार्थ कर सकते हैं। CWSA खण्ड २९, पृ. ३९५-९६

बौद्धों का निर्वाण और अद्वैतवादियों का मोक्ष एक ही वस्तु हैं। यह एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें मनुष्य अपने-आपको अब इस नाम या इस आकार का कोई पृथक् व्यक्ति नहीं अनुभव करता, बल्कि एक अनन्त शाश्वत, देशहीन (यद्यपि वह देश में है), कालहीन (यद्यपि वह काल में है), आत्मा अनुभव करता है। ध्यान रखो, मनुष्य इस स्थिति में पूर्णतया भली-भाँति कार्य कर सकता है और यह केवल समाधि के द्वारा ही प्राप्त नहीं होता।

यह (बुद्ध का निर्वाण) समान चीज़ है (जो कि गीता का ब्रह्मनिर्वाण है)। बस, गीता इसे ब्रह्म में निर्वाण कह कर वर्णित करती है जब कि बुद्ध उसे कोई नाम न देना पसन्द करते हैं और उस विषय में कुछ न कहना पसन्द करते हैं जिसमें निर्वाण घटित हुआ। कुछ बाद के बौद्ध मतों ने उसका शून्य कह कर वर्णन किया जो चीन के ताओ के समान है जिसका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह वह 'कुछ नहीं' है जो सब कुछ है। CWSA खण्ड २१, पृ. ४३१

श्रीअरविन्द तथा निर्वाण

... अब, निर्वाण पर पहुँचना मेरे अपने योग का सबसे पहला मौलिक परिणाम था। इसने मुझे एकाएक ऐसी स्थिति में डाल दिया जो ऊपर और विचार से ख़ाली थी, किसी मानसिक या प्राणिक क्रिया से कलुषित नहीं थी। उस समय कोई अहंभाव नहीं था, कोई सच्चा जगत् नहीं था—उस समय निश्चल-नीरव इन्द्रियों के द्वारा देखने पर ऐसा लगता था कि कोई चीज़ देख रही है अथवा अपनी एकान्त नीरवता पर निस्सार आकारों का, सच्चे सार से रहित मूर्त छायाओं का एक जगत् ढो रही है। न तो कोई 'एक' था और न कोई 'बहु' ही, बस, ठीक निरपेक्ष 'तत्' था, आकारहीन, सम्बन्धहीन, अवर्णनीय, अचिन्त्य, फिर भी चरम रूप में सत्य और नितान्त वास्तव। यह कोई मानसिक उपलब्धि नहीं थी, यह एकमात्र प्रत्यक्ष सद्वस्तु थी—यद्यपि कोई आकाशीय भौतिक जगत् नहीं था जिसने भौतिक जगत् के इस बाह्य रूप को घेर रखा हो, किसी सद्वस्तु के लिए कोई स्थान या अवकाश न छोड़ा हो, जो स्वयं ही विद्यमान हो और अन्य किसी वस्तु को बिलकुल ही वास्तव, प्रत्यक्ष या सारयुक्त प्रतीत न होने देता हो। मैं नहीं कह

सकता कि उस अनुभव में कोई वस्तु उल्लासकारी अथवा परमानन्ददायी थी, जब वह उस समय मेरे पास आयी—अवर्णनीय आनन्द तो मुझे वर्षों बाद मिला—पर जो कुछ वह उपलब्धि ले आयी वह थी एक अकथनीय शान्ति, एक अतिमहान् नीरवता, मुक्ति का एक असीम बोध। मैंने उस निर्वाण में दिन और रात निवास किया और उसके बाद ही उसने अपने अन्दर अन्य चीज़ों को आने देना या अपने-आपको थोड़ा-सा परिवर्तित करना आरम्भ किया, और उस अनुभव का आन्तरिक मर्म, उसकी सतत स्मृति और उसके वापस आने की शक्ति तब तक बनी रही जब तक कि अन्त में उसने ऊपर से आने वाली एक महत्तर अतिचेतना में विलीन होना आरम्भ नहीं कर दिया। परन्तु इस बीच अनुभूतियों के बाद अनुभूतियाँ आती रहीं और उस मौलिक अनुभूति के साथ एकरूप होती गयीं। एक प्रारम्भिक स्थिति में ही मायामय जगत् के भाव ने एक ऐसे भाव को स्थान दे दिया जिसमें माया[१] केवल एक तुच्छ, सतही वस्तु थी और उसके पीछे थी एक विराट् दिव्य सद्वस्तु और उसके ऊपर थी एक सर्वोच्च भागवत सद्वस्तु और प्रत्येक वस्तु के हृदय में विद्यमान थी एक प्रखर भागवत सद्वस्तु और वह सतही कार्य पहले-पहल ऐसा लगा था मानों केवल कोई चलचित्र का रूप या छाया हो। और यह इन्द्रियों में पुनः कारावद्ध होना नहीं था, कोई परम अनुभूति का ह्रसित रूप या पतन नहीं था, बल्कि वह अनुभूति इस रूप में आयी थी मानों वह सत्य का सतत उन्नत होता हुआ और विस्तारित होता हुआ रूप हो। उस समय सच पूछो तो आत्मा वस्तुओं को देखती थी, इन्द्रियाँ नहीं, और शान्ति, निश्चल-नीरवता तथा समस्त के अन्दर स्वातन्त्र्य निरन्तर बना रहा, यह जगत् या सभी जगत् ऐसे मालूम होते थे मानों भगवान् की कालातीत शाश्वतता में घटित होने वाली कोई सतत घटना हों।

CWSA खण्ड ३५, पृ. २४९-२५०

१.वास्तव में यह इस अर्थ में माया नहीं है कि कोई आधारहीन और असत्य वस्तु चेतना पर आरोपित हो गयी है, बल्कि यह सचेतन मन और इन्द्रिय की एक ग़लत व्याख्या है और अभिव्यक्त सत्ता का मिथ्याकारी दुरुपयोग है।

बौद्ध धर्म

बुद्ध और बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध संसार से निवृत्त हो गये, ध्यान लगा कर बैठे और संसार के कष्टों और दुःखों से बाहर निकलने का, रोग और मृत्यु, इच्छा, पाप और क्षुधा से त्राण पाने का मार्ग उन्होंने ढूँढ़ निकाला। उन्होंने एक 'सत्य' का दर्शन किया और इस बात की कोशिश की कि इस सत्य को अपने इर्द-गिर्द जमा अनुयायियों और शिष्यों को बतायें और दें। परन्तु उनके देह-त्याग से पहले ही उनकी शिक्षा की तोड़-मरोड़ शुरू हो गयी थी। बुद्ध के प्रयाण के बाद ही बौद्ध धर्म ने एक ऐसे सुव्यवस्थित धर्म के रूप में सिर उठाया, जिसकी स्थापना बुद्ध के तथाकथित वचनों के कल्पित अर्थों के आधार पर हुई। परन्तु शीघ्र ही, चूँकि उनके शिष्य तथा शिष्यों के शिष्य, इस बात पर सहमत न हो सके कि उनके गुरु ने क्या कहा था और उनके कथन का क्या अर्थ था, इसलिए मूल बौद्ध धर्म की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हो गयीं—हीनयान, महायान तथा सुदूरपूर्व एशिया के बौद्ध पन्थ आदि, कई मत हो गये जिनमें से प्रत्येक का दावा है कि उसके मत में ही बुद्ध की मूल और निर्मल शिक्षा विद्यमान है। ईसामसीह की शिक्षा की भी यही दशा हुई; इसको भी उपर्युक्त प्रकार से ही एक नियमबद्ध और संगठित धर्म का रूप दे दिया गया। बहुधा कहा जाता है कि यदि ईसामसीह लौट कर आयें तो अपनी शिक्षा को उस पर लादे गये रूपों में न पहचान सकेंगे, और यदि बुद्ध यहाँ वापिस आयें और उनकी शिक्षा की जो दशा कर दी गयी है उसको देखें तो वे निरुत्साहित होकर तुरत निर्वाण की ओर भाग जायेंगे! सभी धर्मों की कथा इसी प्रकार की है। सभी धर्मों का जन्म किसी महान् 'जगद्गुरु' के आविर्भाव को लेकर होता है। ये आते हैं, किसी 'भागवत सत्य' को प्रकाशित करते हैं और स्वयं उसके मूर्तिमान् अवतार होते हैं। परन्तु मनुष्य इस सत्य पर क़ब्ज़ा जमा लेते हैं, इसका सौदा करते हैं, इसे एक राजनीतिक संगठन-सा बना लेते हैं। ये लोग धर्म के साथ किसी शासनतन्त्र को, किसी नीति को तथा कुछ क़ायदे-क़ानूनों को जोड़ देते हैं, जिनके अपने सिद्धान्त और नियम, विधि-विधान, शास्त्रोक्त कर्म और अनुष्ठान होते हैं, जिनका अनुसरण और पालन उस धर्म के अनुयायियों

के लिए अलंघ्य और अनिवार्य होता है। शासन की तरह, इसमें भी सच्चे भक्तों को पुरस्कार दिया जाता है और विद्रोह करने वालों तथा उन्मार्गगामियों को, धर्म-विरोधियों और धर्म-त्यागियों को सज़ा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ८६-८७

बौद्ध धर्म के दो प्रकार

"हीनयान" और "महायान" क्या चीज़ें हैं?

ये बौद्ध धर्म के शब्द हैं। मेरे ख़याल से ये पाली शब्द हैं। ऐसा कहा जाता है कि उत्तर का धर्म "महायान" है और दक्षिण का धर्म "हीनयान"। हीनयान एक बिलकुल कठोर शिक्षा को मानता है और वह बुद्ध के कथन के उस भाग पर आधारित है जो सुरक्षित रखा गया है अथवा ऐसा विश्वास किया जाता है कि सुरक्षित रखा गया है।

तुम जानते ही हो कि बुद्ध कहा करते थे कि कोई भगवान् नहीं हैं, अहं का कोई स्थायित्व नहीं है, उच्चतर लोकों की कोई सत्ताएँ नहीं हैं जो यहाँ अवतरित हो सकें, कोई चीज़ नहीं...। उन्होंने लगभग प्रत्येक सम्भव वस्तु को अस्वीकार कर दिया। दक्षिण का धर्म उसी प्रकार का है, वह चरम शून्यवादी है, वह प्रत्येक वस्तु के बारे में ना, ना, ना, कहता है; जब कि उत्तर के धर्म में, जिसका अभ्यास तिब्बत में किया जाता है और जो तिब्बत से चीन और चीन से जापान में फैला हुआ है, हम बोधिसत्त्वों को पाते हैं (जो सभी अन्य धर्मों में विद्यमान सन्तों के जैसे हैं), पुराकाल के सभी बुद्धों को पाते हैं जो एक प्रकार के अर्ध-देवताओं या देवताओं के सदृश हैं। मुझे मालूम नहीं कि तुमलोगों को उत्तर के किसी बौद्ध मन्दिर को देखने का मौक़ा मिला है या नहीं (मैंने उन्हें चीन और जापान में देखा था), तुम वहाँ ऐसे बड़े-बड़े दालानों में प्रवेश करते हो जहां असंख्य छोटी-छोटी मूर्तियाँ होती हैं—सभी बोधिसत्त्व, उन बोधिसत्त्वों के सभी शिष्य, देवता-रूप में प्रकृति की सभी शक्तियाँ, सचमुच तुम देवताओं की संख्या देख कर अभिभूत हो जाते हो! दूसरी ओर, यदि तुम दक्षिण में जाओ तो वहाँ कुछ नहीं है, एक भी मूर्ति नहीं है। मेरे ख़याल से वे "महायान" इसलिए कहते हैं कि वहाँ अन्दर बहुत सारी चीज़ें होती हैं; और "हीनयान" इसलिए कहते हैं कि वहाँ बहुत कम हैं! मैं दोनों शब्दों का ठीक-ठीक मूल नहीं जानती।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ३०६-०७

उत्तर और दक्षिण के पथ

(नलिनी) *बहुत से पाठ हैं। एक उत्तर में प्रचलित है और दूसरा दक्षिण में।*

आह! जैसा बौद्ध धर्म में है। उत्तर और दक्षिण के लोगों की कल्पना अलग-अलग तरह की होती है। साधारणतः दक्षिण के लोग ज़्यादा कट्टर होते हैं, हैं न...? मुझे नहीं मालूम। लेकिन बौद्ध धर्म के बारे में, दक्षिण का बौद्ध धर्म ज़्यादा कट्टर है और पाठ की व्याख्या में ज़रा भी लचीलापन नहीं स्वीकार करता। वह एक भयानक रूप से कट्टर बौद्ध धर्म है जिसमें किसी भी प्रकार के भगवान् के विचार तक को दूर कर दिया गया है। दूसरी ओर, उत्तर के बौद्ध धर्म में देवताओं की भरमार है! यह सच है कि ये सब बोधिसत्त्व हैं, फिर भी उन्हें देवों में बदल दिया गया है और यही धर्म चीन में फैला और वहाँ से जापान गया है। तो, तुम जापान के बौद्ध मन्दिर में प्रवेश करो तो देखोगे...। वहाँ एक मन्दिर है जिसमें हज़ार से अधिक बुद्ध हैं, सबकी मूर्तियाँ—केन्द्रीय बुद्ध के चारों ओर हज़ार मूर्तियाँ बैठी हुई हैं—चारों ओर। मन्दिर की पिछली दीवार, सारी की सारी, चित्रों से भरी थी, छोटे-बड़े, मोटे, पतले, नर, नारी—सभी। वहाँ एक पूरा देवकुल था। बहुत ही बड़ा। सब-के-सब देवों के जैसे लग रहे थे। और फिर नीचे की ओर सब तरह के रूपोंवाली, जिनमें पशु भी थे, छोटी-छोटी सत्ताएँ थीं—और ये सब पुजारी थे। यह... यह सारी देवों की गुप्तोपासना थी। लेकिन दक्षिण का बौद्ध धर्म प्रोटेस्टेंट ईसाइयों की तरह आडम्बरहीन, कठोर है। वहाँ कोई मूर्ति नहीं हो सकती। वहाँ कोई दिव्य 'चेतना' भी नहीं है। मनुष्य इच्छा के कारण धरती पर आता है, इच्छा-जगत् में आता है और इच्छाओं को त्याग कर जगत् और सृष्टि के बाहर, निर्वाण में चला जाता है—वहाँ शून्य भी बहुत ज़्यादा ठोस है। बौद्ध धर्म में कोई 'स्रष्टा' नहीं है। तो, मैं नहीं जानती। दक्षिण के बौद्ध शास्त्र पाली में हैं, और उत्तर के संस्कृत में, और स्वाभाविक है कि तिब्बती बौद्ध धर्म है जिसके शास्त्र तिब्बती भाषा में हैं, चीन के शास्त्र चीनी में और जापानी बौद्ध धर्म के जापानी में। और मेरा ख़याल है कि हर एक दूसरे से बहुत भिन्न है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३५७-५८

पूर्णयोग का अर्थ

पूर्णयोग का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति इस भौतिक जगत् को सदा के लिए इसके भाग्य पर छोड़ कर इससे भाग खड़ा हो, न ही यह योग भौतिक जीवन को, जिस रूप में यह है, बिना किसी निश्चयात्मक परिवर्तन की आशा के स्वीकार ही करता है। यह जगत् को भागवत इच्छा की अन्तिम अभिव्यक्ति के रूप में अंगीकार नहीं करता।

पूर्णयोग का ध्येय है, चेतना की सब सीढ़ियों पर, साधारण मानसिक चेतना से लेकर अतिमानसिक और भागवत चेतना तक, आरोहण करना और जब यह आरोहण पूरा हो जाये तो वापिस इस जड़-जगत् की ओर लौटना और इस प्रकार से प्राप्त अतिमानसिक शक्ति और चेतना को इसमें सञ्चारित करना, ताकि यह पृथ्वी क्रमशः अतिमानसिक और दिव्य जगत् में रूपान्तरित हो जाये।

पूर्णयोग विशेषकर उन लोगों के लिए अभिप्रेत होता है जिन्होंने वह सब कुछ पा लिया है जिसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है, लेकिन फिर भी सन्तुष्ट नहीं है, क्योंकि वे जीवन से उस चीज़ की माँग करते हैं जो वह नहीं दे सकता। जो अज्ञात को जानने के लिए आतुर हैं, जो पूर्णता के लिए अभीप्सा करते हैं, जो अपने से कष्टकर प्रश्न पूछते हैं और जिनका उन्हें कोई निश्चित उत्तर नहीं मिलता, ठीक वही लोग पूर्णयोग के लिए तैयार कहे जा सकते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. १०८

कठिनाइयों के कारण निरुत्साहित मत होओ। जीवन में जब कभी मनुष्य कोई चीज़ हासिल करना चाहता है तो कठिनाइयाँ आती ही हैं। इन्हें तुम ऐसी तपस्या मानो जो तुम्हें सबल बनाती हैं और तब तुम इन्हें अधिक आसानी से पार कर जाओगी।

—श्रीमाँ

बौद्ध तरीक़ा तथा अन्य योग

जगत् के बारे में तीन धारणाएँ

१. बुद्ध और शंकर के मत :

जगत् एक भ्रम है, वह अज्ञान के कारण, अज्ञान और दुःख का क्षेत्र है। करने-लायक चीज़ बस यही है कि जितनी जल्दी हो सके इससे निकल कर 'आदि असत्' या 'अव्यक्त' में विलीन हो जाओ।

२. प्रचलित वेदान्त की धारणा :

जगत् तत्त्वतः भगवान् है क्योंकि 'भगवान्' सर्वव्यापी हैं। लेकिन उनकी बाहरी अभिव्यक्ति विकृत, अन्धकारमयी, अज्ञानमयी और भ्रष्ट है। एकमात्र करने-लायक चीज़ है, आन्तरिक भगवान् के प्रति सचेतन होना और जगत् के बारे में परेशान हुए बिना उसी चेतना में स्थित रहना; क्योंकि यह बाहरी जगत् नहीं बदल सकता और हमेशा अपनी इसी स्वाभाविक अचेतना और अज्ञान की अवस्था में रहेगा।

३. श्रीअरविन्द की दृष्टि :

जगत् जैसा कि अभी है, वह भागवत सृष्टि नहीं है जो उसे होना चाहिये, बल्कि उसकी अन्धकारमयी और विकृत अभिव्यक्ति है। वह भागवत चेतना और इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं है, लेकिन वह है वही बनने के लिए; इसका सृजन इसीलिए हुआ है कि यह परम प्रभु के सभी रूपों और पहलुओं में—'प्रकाश', 'ज्ञान', 'शक्ति', 'प्रेम' और 'सौन्दर्य' में—'उनकी' पूर्ण अभिव्यक्ति में विकसित हो।

हमारी जगत् के बारे में यही धारणा है। हम इसी लक्ष्य का अनुसरण करते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३६

योग के दो लक्ष्य

पूर्णयोग का उद्देश्य है, आत्म-परिपूर्णता, आत्म-विलयन नहीं।

योगी के अनुसरण के लिए दो पथ दर्शाये गये हैं—विश्व से विरक्ति और विश्व में पूर्णता; पहला, संयम द्वारा प्राप्त होता है, दूसरा, तपस्या से प्रभावित होता है; जब हम ईश्वर को अस्तित्व के अन्दर खो देते हैं, हमें

पहला प्राप्त होता है, जब हम ईश्वर में अस्तित्व को परिपूर्ण करते हैं, हमें दूसरा उपलब्ध होता है। वर दे कि हमारा पथ पूर्णता का पथ हो, परित्याग का नहीं; हमारा लक्ष्य युद्ध में विजय हो, सभी संघर्षों से पलायन नहीं।

बुद्ध तथा शंकर ने संसार को पूरी तरह से मिथ्या और परम दुःखदायी समझा : इसलिए जगत् से भाग निकलना ही उनके लिए एकमात्र बुद्धिमानी थी, एकमात्र हल था। लेकिन यह जगत् ब्रह्म है, जगत् भगवान् है, जगत् सत्य है, जगत् आनन्द है; यह तो हमारा ही मानसिक अहंकार है जिसके द्वारा हम जगत् को ग़लत समझते हैं और जगत् में भगवान् के साथ सही सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते। यही तो है सारे दुःख-दर्द की जड़। हमारे सन्ताप और दुःख-दर्द का इसके अलावा वस्तुतः और कोई कारण नहीं है।
CWSA खण्ड १२, पृ. ९६

बुद्ध का पथ, ऋषियों का पथ

तो फिर, माँ, भारत के सभी आध्यात्मिक सम्प्रदाय सिद्धान्त रूप में कर्म से क्यों कतराते हैं?

हाँ, क्योंकि ये सब इस शिक्षा पर आधारित हैं कि जीवन एक भ्रान्ति है, माया है। इसका आरम्भ बुद्ध से हुआ जिन्होंने कहा कि समस्त अस्तित्व कामना का फल है तथा दुःख, पीड़ा और कामना में से बाहर निकलने का एक ही उपाय है; वह है अस्तित्व में से बाहर निकल जाना। और शंकर ने इसे जारी रखा, उन्होंने यह और जोड़ दिया कि केवल इतना ही नहीं कि यह कामना का फल है बल्कि यह पूर्ण रूप से माया है, और जब तक तुम इस माया में निवास करते हो तब तक भगवान् को नहीं पा सकते। उनके लिए मेरा ख़याल है, कोई भगवान् भी न था; कम-से-कम बुद्ध के लिए तो नहीं ही था।...

उदाहरण के लिए, अगर हम ऋषियों की शिक्षा की ओर लौटें, तो वहाँ जगत् से पलायन करने का कोई विचार न था; उनके लिए सिद्धि पृथ्वी पर ही होनी थी। उन्होंने भली-भाँति एक 'सुनहरे युग' की कल्पना की थी जहाँ सिद्धि पृथ्वी पर ही होती। लेकिन शायद यह देश के आध्यात्मिक जीवन की प्राण-शक्ति के ह्रास के साथ आरम्भ हुआ, शायद एक और ही

दिशा-विन्यास के कारण... निश्चित रूप से पलायन का यह विचार बुद्ध की शिक्षा से शुरू हुआ जिसने देश की प्राण-शक्ति को दुर्बल बना दिया, क्योंकि व्यक्ति को जीवन से नाता तोड़ने के लिए प्रयास करना पड़ता था। बाहरी वास्तविकता मायामय मिथ्यात्व बन गयी और व्यक्ति का उससे कोई सम्बन्ध न रहा। तो स्वाभाविक था कि व्यक्ति का वैश्व ऊर्जा से नाता टूट गया और प्राण-शक्ति का ह्रास होता चला गया, और इस प्राण-शक्ति के साथ-साथ सिद्धि की सभी सम्भावनाएँ भी कम होती गयीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ३२०, ३२२

सन्तुलन अनिवार्य है, जो पथ सावधानतापूर्वक विपरीत चरमावस्थाओं से बचता है वह अनिवार्य है, अत्यधिक जल्दबाज़ी ख़तरनाक है, अधैर्य आगे बढ़ने से तुम्हें रोकता है; और साथ-ही-साथ, तामसिकता तुम्हारे पैरों में बेड़ियाँ डाल देती है।

अतएव, सभी चीज़ों के लिए वास्तव में मध्यम मार्ग (मज्झम निकाय) ही, जैसा कि बुद्ध ने इसे नाम दिया था, सबसे उत्तम है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३४३

मूलतः धम्मपद के सूत्रों से यह शिक्षा मिलती है कि व्यक्ति के लिए दिखायी देने की अपेक्षा होना अधिक आवश्यक है। उसे जीना चाहिये न कि दिखावा करना, दूसरों को यह दिखाने की अपेक्षा कि वह कुछ चरितार्थ कर रहा है, यह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह वस्तु को उसके समग्र और पूर्ण रूप में सच्चाई के साथ चरितार्थ करे!

यहाँ भी वही बात है: जब व्यक्ति जो कुछ कर रहा है उसे बताने की आवश्यकता अनुभव करता है; तो वह अपने आधे कर्म को नष्ट कर डालता है। पर साथ ही यह तुम्हें यह देखने और जानने में सहायता प्रदान करता है कि तुम ठीक-ठीक किस बिन्दु पर हो।

यह बुद्ध की बुद्धिमत्ता थी जब उन्होंने कहा था: "मध्यम मार्ग", न बहुत अधिक यह, न बहुत अधिक वह। न इसमें गिरो, न उसमें गिरो— प्रत्येक वस्तु का थोड़ा-थोड़ा और एक सन्तुलित मार्ग... किन्तु "विशुद्ध"। विशुद्धता और सत्यनिष्ठा एक ही हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. २३७-३८

सत्य पलायन में नहीं, रूपान्तरण में है

श्रीअरविन्द इतिहास के बिलकुल नहीं हैं; वे उसके बाहर, उसके परे हैं।

श्रीअरविन्द के जन्म तक, धर्म और अध्यात्म के पन्थ हमेशा भूतकालीन व्यक्तियों पर आधारित थे और वे "जीवन का लक्ष्य" बताते थे धरती से जीवन के विलय को। तो, तुम्हारे सामने दो विकल्प होते थे: या तो

—इस जगत् **में** ऐसा जीवन जो तुच्छ विलास और पीड़ा, सुख-दुःख का चक्कर होगा और ठीक तरह व्यवहार न करने से नरक का भय रहेगा, या

—यहाँ से किसी और लोक **में** बच निकलना स्वर्ग, निर्वाण, मोक्ष...।

इन दोनों में से चुनने-लायक कुछ भी नहीं है, दोनों समान रूप से ख़राब हैं।

श्रीअरविन्द ने हमें बतलाया है कि यही वह आधारभूत भूल थी जो भारत की दुर्बलता और उसके पतन के लिए ज़िम्मेदार है। बौद्ध धर्म, जैन धर्म, मायावाद देश की समस्त जीवन-शक्ति को सुखा देने के लिए काफ़ी थे।

यह सच है कि आज धरती पर भारत ही एकमात्र देश है जिसे इस बात का भान है कि 'जड़-द्रव्य' के सिवा और भी किसी चीज़ की सत्ता है। अन्य देश—यूरोप, अमरीका आदि—इसे बिलकुल भूल चुके हैं। इसलिए सन्देश अभी तक उसी के पास है, उसे सुरक्षित रखना और दुनिया तक पहुँचाना है। लेकिन अभी तो वह अव्यवस्था में बिखर और छटपटा रहा है।

श्रीअरविन्द ने बतलाया है कि सत्य सांसारिक जीवन से भागने में नहीं, उसके *अन्दर* रह कर, **उसे रूपान्तरित करने और उसे दिव्य बनाने में** है ताकि भगवान् **यहाँ, भौतिक जगत्** में अभिव्यक्त हो सकें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. २३०

तुम्हारा शरीर कहीं भी क्यों न हो,
यदि तुम अपने हृदय में भगवान् पर एकाग्र होओ,
तो वे तुम्हारे साथ होंगे।

—श्रीमाँ

बुद्ध. सारनाथ

अपने-आपको मन से भी पृथक् करो। व्यक्ति को मानसिक, प्राणिक और भौतिक स्तरों में भी—केवल ऊर्ध्व में ही नहीं—एक चेतना को अनुभव करना चाहिये, जो न तो मन है, न प्राण और न ही शरीर।

—श्रीअरविन्द

धम्मपद के मनके

(अगस्त १९५७ से सितम्बर १९५८ के बीच श्रीमाँ प्रत्येक शुक्रवार की शाम को आश्रम के क्रीड़ांगण में, बच्चों की कक्षाएँ लिया करती थीं जिनमें बौद्ध धर्म की अत्यन्त पवित्र पुस्तक "धम्मपद" के पदों को पढ़ कर उनकी व्याख्या किया करती थीं। उन्हीं कतिपय व्याख्याओं को हम आगामी पन्नों पर परोस रहे हैं—सं.)

बुद्ध की शिक्षा की उपयोगिता

प्रत्येक वस्तु जो मानवजाति को प्रगति करने में सहायता पहुँचाती है, एक सहायता है और वह सब जो उसे प्रगति करने से रोकता है, एक बाधा है!

वस्तुतः, यह प्रश्न तुम मुझ से इसलिए कर रहे हो क्योंकि हम 'धम्मपद' का अध्ययन करते और उस पर ध्यान करते हैं...। स्वाभाविक है कि मैंने इस पुस्तक को इसलिए लिया है क्योंकि मैं समझती हूँ कि विकास की एक विशेष अवस्था में यह बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह एक साधना है जिसे कुछ सूत्रों में निश्चित रूप दिया गया है। यदि तुम इन सूत्रों का यथोचित लाभ उठाओ तो यह पुस्तक बहुत सहायक हो सकती है, अन्यथा मैं इसे लेती ही नहीं। कितनी सहायक हो सकती है यह प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर करेगा। यह इस पर निर्भर करता है कि वह इससे लाभ उठाना जानता है या नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २२१-२२

अपने मन को संयमित करना

वर्तमान संसार में मनुष्य का साधारण जीवन, जैसा अभी है, मन के द्वारा शासित है; अतएव, सबसे अधिक महत्त्व की बात है, अपने मन को संयमित करना; अतः, अपने मन को विकसित और संयमित करने के लिए हम एक "क्रमबद्ध" साधना का अनुसरण करेंगे जिसका वर्णन 'धम्मपद' के इन सूत्रों में किया गया है।

चार क्रियाएँ हैं जो सामान्यतया क्रमशः एक के बाद एक आती हैं,

पर जो अन्त में चल कर एक साथ भी की जा सकती हैं। उनमें से पहली है : अपने विचारों का अवलोकन करना; दूसरी है : सतर्कतापूर्वक उनकी चौकसी रखना; तीसरी है : अपने विचारों को संयमित करना; और चौथी है : अपने विचारों पर प्रभुत्व पाना। देखना, चौकसी रखना, संयमित करना और अधिकार में लाना—यह सब हमें दुष्ट या पथभ्रष्ट मन से मुक्त होने के लिए करना होगा, क्योंकि यहाँ कहा गया है कि जो मनुष्य एक सदोष मन से बोलता या कार्य करता है उसका पीछा दुःख वैसे ही पास-पास रह कर करता है जैसे पहिया गाड़ी या हल खींचने वाले बैलों के खुरों का पीछा करता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १९३-९४

सन्तुलन, मिताचार, सत्यनिष्ठा, ईमानदारी

बौद्ध धर्म के अनुसार "अशुद्धियों" का मुख्य अर्थ है, अहंभाव और अज्ञान; क्योंकि, बौद्ध धर्म की दृष्टि से, सबसे महान् दोष है अज्ञान, बाह्य वस्तुओं का अज्ञान नहीं, प्रकृति के विधानों का अथवा उन सब वस्तुओं का अज्ञान नहीं जिन्हें तुम विद्यालय में सीखते हो, बल्कि वस्तुओं के गभीरतम सत्य का अज्ञान, सत्ता के विधान का, 'धर्म' का अज्ञान।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि जिन दो बुराइयों पर ज़ोर दिया गया है वे हैं, आत्म-संयम का अभाव और निष्ठा का अभाव। निष्ठा का यहाँ अर्थ है सद्हृदयता, ईमानदारी; 'धम्मपद' अत्यन्त कठोर रूप में जिस चीज़ की निन्दा करता है वह है पाखण्ड : इस बात का झूठा दिखावा करना कि तुम आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हो और न बिताना, यह दिखावा करना कि तुम सत्य की खोज करना चाहते हो और न करना, दिव्य जीवन के प्रति अपने को उत्सर्ग कर देने का बाहरी चिह्न प्रदर्शित करना—यहाँ गेरुआ वस्त्र उस उत्सर्ग का प्रतीक है—पर अन्दर बस स्वयं अपने साथ, अपने ही स्वार्थ और अपनी ही आवश्यकताओं में संलग्न रहना।

यहाँ ध्यान देने-योग्य मज़ेदार बात है, आत्म-संयम पर 'धम्मपद' का आग्रह, क्योंकि बौद्ध शिक्षा के अनुसार, प्रत्येक बात में अति का होना बुरा है। बुद्ध सदा "मज्झम निकाय" (मध्यम पथ) पर सबसे अधिक ज़ोर देते हैं। तुम्हें कभी इस ओर या उस ओर बहुत अधिक नहीं चले जाना

चाहिये, किसी इस या उस वस्तु को अतिरञ्जित नहीं करना चाहिये। तुम्हें सभी बातों में एक मात्रा, सभी चीज़ों में सन्तुलन, मिताचार का सन्तुलन बनाये रखना चाहिये।

अतएव, जो गुण तुम्हें आध्यात्मिक जीवन यापन करने का अधिकारी बनाते हैं वे हैं, आन्तरिक सन्तुलन, अपने कर्म में सन्तुलन और प्रत्येक विषय में मिताचारी होना, सच्चा, ईमानदार, सत्यनिष्ठ होना।

सन्तुलन, मिताचार, सत्यनिष्ठा, ईमानदारी : बस, यही आज हमारे ध्यान का विषय है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २०२

मन को शान्त करना

चीन, जापान और बर्मा आदि देशों में सब प्रकार के असंख्य छोटे-छोटे बौद्ध सम्प्रदाय हैं और इनमें से प्रत्येक अपनी निजी पद्धति का अनुसरण करता है; परन्तु उन सबमें जो सबसे अधिक फैले हुए मत हैं उनकी एकमात्र साधना है, मन को शान्त करना।

वे दिन में और रात को भी घण्टों बैठ, अपने मन को शान्त करते हैं। यही उनके लिए समस्त अनुभूतियों की मूल कुञ्जी है—शान्त मन, वह मन जिसको बिना हिले-डुले घण्टों शान्त रहना आता है। परन्तु तुम्हें यह विश्वास नहीं बना लेना चाहिये कि यह बहुत आसान है, लेकिन उन लोगों का दूसरा कोई उद्देश्य नहीं है। वे किसी विचार पर अपने मन को एकाग्र नहीं करते, वे बहुत अच्छा समझने की, अधिक जानने की, ऐसी कोई चीज़ करने की चेष्टा नहीं करते, उनके लिए बस यही पथ है कि शान्त-स्थिर मन को प्राप्त किया जाये और कभी-कभी इस परिणाम पर पहुँचने के लिए—मन को नीरव बनाने के लिए, उसे एकदम मौन और निश्चल बनाये रखने के लिए—प्रयास करने में उन्हें बरसों-पर-बरस लगा देने पड़ते हैं। क्योंकि, जैसा कि यहाँ 'धम्मपद' में कहा गया है, यदि मन असन्तुलित हो तो एक-दूसरे के बाद आने वाले विचारों की, एक-दूसरे का खण्डन और विरोध करने वाले विचारों की, वस्तुओं के ऊपर कल्पना-जल्पना करने वाले और मस्तिष्क के अन्दर जो कुछ धक्कम-धक्का करते हैं उन सबकी यह सतत क्रिया मानों छत में बहुत सारे छेद की भाँति होती है। और इन छिद्रों में से होकर सब प्रकार की अवाञ्छित क्रियाएँ चेतना में घुस आती

हैं, जैसे चूने वाली छत में से होकर पानी घर में घुस आता है।

पर बात जो भी हो, मैं समझती हूँ कि यह एक ऐसा अभ्यास है जो प्रत्येक व्यक्ति को यह परामर्श देता है कि मन को स्थिर, शान्त, निश्चल बनाने की चेष्टा करने के लिए प्रतिदिन थोड़ा-सा समय निश्चित कर लेना चाहिये। और इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तुम्हारा मन जितना अधिक विकसित होगा उतनी ही शीघ्र तुम यह कार्य करने में सफल होओगे; और मन जितनी अधिक अविकसित स्थिति में होगा यह कार्य उतना ही अधिक कठिन होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २०८

सचमुच ख़ुश रहना

हम जो कुछ करते हैं उसकी बीभत्सता को देखने के लिए हमें बहुत अधिक ऊँचा उठना होता है। इसके लिए मनुष्य के अन्तरतम प्रदेश में इस बात का पूर्वज्ञान होना चाहिये कि सौन्दर्य, महानता, उदारता क्या वस्तुएँ हैं, पर उसके अपने अन्दर इन सब चीज़ों का अभाव होता है।...

जब हम यह जानते हैं कि यह कार्य नहीं करना चाहिये और फिर उसी को लगातार करते रहते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि हम जो कुछ आराम, जो कुछ सम्भवनीय शान्ति, जो कुछ सुख-समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं उसकी बलि चढ़ा कर ही ऐसा कर रहे हैं। जो मनुष्य झूठ बोलता है वह इस भय से निरन्तर बेचैन रहता है कि उसकी मिथ्या बात प्रकट हो जायेगी; जो व्यक्ति ग़लत रूप में कार्य करता है वह इस भावना से सदा चिन्तित रहता है कि शायद उसे दण्ड दिया जायेगा; जो आदमी धोखा देने की चेष्टा करता है वह शान्ति नहीं पाता और इस बात से सन्त्रस्त रहता है कि कहीं यह न पता चल जाये कि वह धोखा देता है।

वास्तव में, विशुद्ध अहंकारपूर्ण हेतु से भी शान्त-स्थिर बने रहने तथा अपनी दुश्चिन्ता को घटा कर कम-से-कम कर देने का सबसे उत्तम साधन है अच्छा काम करना, सच्चा होना, सरल होना और न्यायपरायण होना। और इसके साथ-साथ यदि कोई बिना लेखा-जोखा किये और स्वार्थ-बुद्धि से निष्काम और अनासक्त हो सके, तो फिर उसके लिए वास्तव में ख़ुश रहना सम्भव हो जायेगा।

तुम अपने कर्मों से उत्पन्न वातावरण को अपने साथ, अपने चारों ओर, अपने अन्दर लिये फिरते हो, और तुम जो कुछ करते हो वह यदि सुन्दर, भला और सुसमञ्जस हो तो तुम्हारा वातावरण भी सुन्दर, अच्छा और सुसमञ्जस बना रहेगा, दूसरी ओर, यदि तुम क्षुद्र स्वार्थपरता में, अविवेकपूर्ण आत्म-हितचिन्तन में, निष्ठुर अशुभ इच्छा में निवास करो तो तुम अपने जीवन के प्रत्येक मुहूर्त उसी में साँस लोगे और उसका अर्थ होगा, दुःख, निरन्तर बेचैनी; उसका अर्थ होगा, ऐसी बीभत्सता जो अपनी ही बीभत्सता के कारण निराशा में पैठ जाती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २११-१२

तब वातावरण ज्योतिर्मय बन जाता है...

... जब तुम अच्छे हो, जब तुम उदार हो, महान्, निःस्वार्थ और परोपकारी हो तो तुम अपने अन्दर, अपने चारों ओर एक वातावरण उत्पन्न करते हो और यह वातावरण एक प्रकार की ज्योतिर्मयी शान्ति की तरह होता है। तुम सूर्य की रोशनी में एक फूल की तरह साँस लेते हो और विकसित होते हो, और कटुता, विद्रोह और सन्ताप में अपनी ओर मुड़ने की दुःखद अवस्था में नहीं लौटते। सहज, स्वाभाविक रूप में, वातावरण ज्योतिर्मय बन जाता है। और जो हवा तुम साँस में लेते हो वह आनन्द से भरी होती है। बस, तुम इसी हवा को साँस में लेते हो जब शरीर में रहते हो या शरीर से बाहर, जाग्रत् अवस्था में होते हो या नींद की अवस्था में, जीवन में होते हो या जीवन से बाहर चले जाते हो, पार्थिव जीवन से बाहर, जब तक तुम नया जीवन नहीं प्राप्त कर लेते।

सभी दोषपूर्ण कार्य चेतना पर उस हवा के जैसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं जो सुखा देती है, उस ठण्डक के जैसा प्रभाव डालते हैं जो जमा देती है, अथवा उस जलती लौ के जैसा प्रभाव डालते हैं जो जला कर भस्म कर देती है।

सभी अच्छे और सौजन्यपूर्ण कार्य ज्योति, विश्रान्ति और आनन्द प्रदान करते हैं—सूर्य का वह प्रकाश ले आते हैं जिसमें फूल खिलते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २१४

जागरूकता

जागरूकता का अर्थ है जगे रहना, अपने विषय में सावधान रहना, सच्चा होना—कभी बेख़बरी में आक्रान्त न होना। जब तुम साधना करना चाहते हो तो तुम्हें अपने जीवन के प्रत्येक क्षण चुनाव करना होगा—या तो तुम वह पग उठाओगे जो तुम्हें लक्ष्य की ओर ले जायेगा अथवा तुम सो जाओगे या कभी-कभी पीछे भी हट जाओगे, रास्ते में बैठ कर कहोगे, "ओह! बाद में, अभी तुरन्त नहीं।"

जागरूक होने का अर्थ केवल यही नहीं है कि जो चीज़ तुम्हें नीचे की ओर खींचती है उसका प्रतिरोध करो, बल्कि उसका अर्थ है सजग होना, ताकि तुम प्रगति करने का, किसी कमज़ोरी को जीतने का, किसी प्रलोभन का प्रतिरोध करने का, कोई चीज़ सीखने का, कोई चीज़ सुधारने का, किसी चीज़ पर संयम स्थापित करने का कोई भी अवसर न खो दो। यदि तुम जागरूक हो तो जिस काम को करने में बरसों लग जाते, उसे कुछ दिनों में कर सकते हो। यदि तुम जागरूक हो तो अपने जीवन की प्रत्येक परिस्थिति को, प्रत्येक कार्य, प्रत्येक गतिविधि को लक्ष्य के अधिक समीप जाने के एक सुयोग में परिवर्तित कर लोगे।

जागरूकता दो प्रकार की होती हैं, निष्क्रिय जागरूकता और सक्रिय जागरूकता। एक जागरूकता ऐसी है जो तुम्हें ठीक उसी समय चेतावनी देती है जिस समय तुम कोई भूल करने वाले होते हो, तुम कोई ग़लत चुनाव करने वाले होते हो, तुम दुर्बल बनते जाते हो अथवा किसी प्रलोभन में पड़ जाते हो; दूसरी जागरूकता सक्रिय होती है जो प्रगति करने का अवसर ढूँढ़ती है, अधिक तेज़ी से आगे बढ़ने के लिए प्रत्येक परिस्थिति का उपयोग करना चाहती है।

तुम्हें गिरने से बचाने और तुम्हें अधिक तेज़ी से आगे बढ़ा ले जाने में बड़ा भेद है। और दोनों प्रकार की जागरूकताएँ, एकदम आवश्यक हैं।

जो जागरूक नहीं है वह मरा हुआ ही है। उसने अस्तित्व के, जीने के सच्चे कारण के साथ अपना सम्पर्क खो दिया है। अतएव, घण्टे, परिस्थितियाँ, जीवन, सभी बिना कुछ दिये चले जाते हैं और तुम अपनी नींद से एक ऐसी खाई में जगते हो जहाँ से बाहर निकलना बड़ा कठिन होता है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २१६-१७

त्याग तथा जड़-भौतिकवाद

इस सारी शिक्षा में एक बात ध्यान देने-योग्य है; वह यह है कि तुमसे कहीं यह नहीं कहा गया है कि अच्छी तरह जीवन बिताना, अच्छी तरह सोचना-समझना किसी संघर्ष या किसी त्याग का परिणाम है; इसके विपरीत, यह एक आनन्दपूर्ण स्थिति है जो सभी कष्टों को दूर कर देती है। उस युग में, बुद्ध के काल में, आध्यात्मिक जीवन यापन करना एक हर्ष की, आनन्द की अवस्था थी, अत्यन्त प्रसन्नतापूर्ण स्थिति थी, वह चीज़ थी जो तुम्हें संसार की सभी विपत्तियों से मुक्त कर देती है, सभी दुःख-कष्टों, सभी दुश्चिन्ताओं से छुटकारा दिला देती है, तुम्हें प्रसन्न, सन्तुष्ट, परितृप्त बनाती है।

आधुनिक युग के जड़वाद ने आध्यात्मिक प्रयास को एक दुःखपूर्ण प्रयास और एक बलिदान, जीवन के सभी तथाकथित सुखों के एक कठोर त्याग का रूप दे दिया है।

भौतिक जगत् को, भौतिक सुख-भोग, भौतिक आनन्द, भौतिक वैभव को ही एकमात्र सद्वस्तु समझने का जो यह आग्रह है, यह मानव सभ्यता की समस्त जड़वादी प्रवृत्ति का ही परिणाम है। प्राचीन युगों में इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। बल्कि, संसार से अलग होना, एकाग्रता, सभी भौतिक चिन्ताओं से मुक्ति, आध्यात्मिक आनन्द के लिए उत्सर्ग आदि चीज़ें ही वास्तव में प्रसन्नता देने वाली थीं।

इस दृष्टि से देखें तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि मनुष्यजाति प्रगति से कोसों दूर है; और जो लोग संसार में जड़वादी सभ्यता के केन्द्रों में पैदा हुए हैं उनकी अवचेतना में यह भयंकर भावना भरी हुई है कि केवल जड़-जगत् के तथ्य ही सत्य हैं और जो चीज़ें जड़-जगत् की नहीं हैं उनमें उसका रहना एक अद्‌भुत बलिदान की भावना है, क़रीब-क़रीब एक अलौकिक प्रयास है। सवेरे से शाम तक और शाम से सवेरे तक, सभी छोटी-छोटी भौतिक तृप्तियों, भौतिक सुखों, भौतिक संवेदनाओं, भौतिक व्यापारों में व्यस्त न बने रहना एक प्रकार के विलक्षण चरित्र का प्रमाण है। मनुष्य इसके विषय में सचेतन नहीं है; पर समूची आधुनिक सभ्यता इसी परिकल्पना के ऊपर निर्मित हुई है : "ओह! जो कुछ तुम छूते हो उसके विषय में तुम निश्चित हो कि वह सत्य है; जो कुछ तुम देखते हो वह निश्चय ही वह चीज़ है जो सत्य है, जो कुछ तुम खाते हो वह निश्चय ही वही चीज़ है

जिसे तुमने खाया है; और बाक़ी जो सब है—फुस! हम बिलकुल निश्चित नहीं हैं कि वे सब निरर्थक स्वप्न हैं या नहीं, और हम मिथ्या के लिए सत्य को, परछाईं के लिए शिकार को छोड़ रहे हैं या नहीं। आख़िरकार, तुम क्या पाने जा रहे हो? कुछ थोड़े-से स्वप्न! परन्तु तुम्हारी जेब में जब ठोस सिक्के हों तो तुम्हें विश्वास होता है कि वे तुम्हारे पास हैं!"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २१८-१९

मार्ग पर नष्ट किया गया समय दुःख बन जाता है

यह एक तथ्य है कि जब कोई मार्ग पर समय नष्ट न करने का भरसक प्रयत्न करता है तो जो भी समय नष्ट होता है वह एक दुःख बन जाता है और उसमें उसे किसी प्रकार का सुख नहीं प्राप्त हो सकता। और जब एक बार तुम उस स्थिति में आ जाते हो, जब एक बार प्रगति और रूपान्तर का यह प्रयास तुम्हारे जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है, ऐसी चीज़ बन जाता है जिस पर तुम निरन्तर विचार करते रहते हो, तब, निस्सन्देह, तुम शाश्वत जीवन, अपनी सत्ता का सत्य पाने के पथ पर आ जाते हो।

निश्चय ही, आन्तरिक प्रगति की धारा में एक क्षण ऐसा आता है जब तुम एकाग्र होने के लिए, सत्य को पाने और उसे उत्तम रूप में अभिव्यक्त करने की खोज करने और उसी का चिन्तन करने में संलग्न होने के लिए —जिसे बौद्ध लोग ध्यान कहते हैं—बिलकुल प्रयास नहीं करते और, उसके विपरीत, तुम एक प्रकार की राहत, चैन, आराम, सुख अनुभव करते हो; तथा उसके बाहर आकर उन चीज़ों में व्यस्त होना जो बिलकुल आवश्यक नहीं हैं, जो सब समय का अपव्यय जैसी प्रतीत होती हैं, भयंकर दुःखदायी प्रतीत होता है। उस समय बाहरी क्रियाएँ बस उतनी ही रह जाती हैं जो एकदम आवश्यक होती हैं, बस, वे ही रह जाती हैं जो भगवान् की सेवा के रूप में की जाती हैं। जो कुछ निःसार, अनुपयोगी होता है, जो कुछ निश्चित रूप से समय और शक्ति के अपव्यय जैसा प्रतीत होता है वह सब—ज़रा भी सन्तोष देने की बात तो दूर—एक प्रकार की बेचैनी और थकान उत्पन्न कर देता है; तुम बस उसी समय प्रसन्न रहते हो जब अपने लक्ष्य पर केन्द्रित होते हो।

उस समय यह कहा जा सकता है कि तुम सचमुच अपने पथ पर हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २२५-२६

जो तुम बनना चाहते हो उसी पर एकाग्र होओ

यहाँ कुछ बड़े सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उपदेश हैं—जैसे, दूसरे जो कुछ करते हैं और वे जो भूलें करते हैं उनके विषय में व्यस्त नहीं होना चाहिये, बल्कि अपने निजी दोषों और लापरवाहियों को देखना चाहिये और उन्हें सुधारना चाहिये। दूसरी उत्तम सलाह है कि कभी बहुत अधिक ऐसी सुभाषित वाणी नहीं बोलनी चाहिये जो कर्म में परिणत न की गयी हो—थोड़ा बोलो और उत्तम रूप में काम करो। उनका कहना है कि जो सुन्दर शब्द बस शब्द ही हैं, वे सुगन्धहीन फूल की तरह हैं।

और अन्त में, तुम अपने दोषों के कारण कहीं हतोत्साह न हो जाओ इसलिए धम्मपद तुम्हें यह आश्वासन देने वाली उपमा देता है: सड़क के किनारे पड़े हुए कूड़े-करकट के ढेर में से विशुद्ध कमल उत्पन्न हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि कोई चीज़ इतनी रद्दी नहीं है कि उसमें से अत्यन्त पवित्र उपलब्धि उत्पन्न न हो सके।

हमारा भूतकाल चाहे जो भी रहा हो, हमने चाहे जो भी भूलें की हों, हम चाहे जितने अज्ञान में क्यों न रह चुके हों, हम अपनी गभीरतम सत्ता में परम पवित्रता को धारण किये हुए हैं जो एक भव्य उपलब्धि के रूप में रूपान्तरित हो सकती है।

बस, प्रधान बात है, उसी के विषय में सोचना, उसी के ऊपर एकाग्र होना और अपनी समस्त कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं के विषय में संलग्न न रहना।

जो कुछ तुम बनना चाहते हो, बस, उसी पर पूर्ण रूप से एकाग्र होओ और जो कुछ तुम नहीं होना चाहते उसे यथासम्भव समग्र रूप में भूल जाओ।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २३३-३४

दोष ढूँढ़ लेना एक उपलब्धि है...

"आह, फिर से एक दोष," कहने और दुःखी होने की जगह उलटा हमें ख़ुश होना चाहिये, मानों कोई अद्‌भुत सम्पत्ति मिल गयी हो क्योंकि हमें एक ऐसी चीज़ का पता लगा है जो हमें प्रगति करने से रोकती थी। और एक बार हमने उसे पकड़ लिया तो बस उसे उखाड़ फेंकना चाहिये!

क्योंकि जो लोग योगाभ्यास करते हैं वे मानते हैं कि जिस क्षण मनुष्य को पता लगता है कि अमुक बात नहीं होनी चाहिये उसी क्षण उसमें उसे हटाने की, दूर फेंकने और नष्ट करने की शक्ति आ जाती है।

दोष ढूँढ़ लेना एक उपलब्धि है। यह ऐसा है मानों ज्योति का स्रोत एक ऐसे स्थान में प्रवेश करता है जहाँ अन्धकार था और जिसे अभी-अभी भगाया गया है।

जब तुम योगाभ्यास करते हो तो इस कमज़ोरी, इस सुस्ती, इच्छाशक्ति की इस कमी को अनुमति मत दो जिसके कारण ज्ञान के साथ-ही-साथ शक्ति नहीं आती। यह जानना कि एक चीज़ नहीं होनी चाहिये और फिर भी उसे होने देना एक ऐसी कमज़ोरी का संकेत है जिसे कोई गम्भीर साधना-प्रणाली अनुमति नहीं देती। इच्छा-शक्ति की यह ऐसी कमी है जो कपट तक जा पहुँचती है। तुम जानते हो कि एक चीज़ नहीं होनी चाहिये और जिस क्षण से तुम यह जानते हो उसी क्षण से तुम उसके स्वामी हो और वह न हो पायेगी, क्योंकि ज्ञान और शक्ति मूलतः एक ही चीज़ हैं—इसका मतलब यह कि तुम्हें अपनी सत्ता के किसी भाग में दुर्भावना की इस छाया को प्रवेश न पाने देना चाहिये, यह प्रगति की केन्द्रीय इच्छा-शक्ति के विरुद्ध है और ऐसी बुराई के सामने तुम्हें दुर्बल, साहसहीन और शक्तिहीन बना देती है जिसे तुम्हें नष्ट करना चाहिये।

अज्ञान में किया गया पाप पाप नहीं है; वह संसार जैसा है, उसकी सर्वसाधारण बुराई का एक अंग है, लेकिन जब तुम जानते हुए पाप करो तो बात गम्भीर हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि कहीं किसी भाग में फल के अन्दर कीड़े की तरह दुर्भावना का तत्त्व है जिसको किसी भी क़ीमत पर खोज निकालना और किसी-न-किसी तरह नष्ट कर देना चाहिये; क्योंकि इस तरह की कोई कमज़ोरी कभी-कभी ऐसी मुसीबतों की जड़ होती है, जो आगे चल कर असाध्य हो जाती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २४२-४३

अपने अन्दर सच्चाई के साथ झाँको

तुम अपने-आपको बहुत अच्छा, बहुत सुशील, बहुत शिष्ट और हमेशा अच्छी भावनाओं से भरा मानते हो। तुम किसी का बुरा नहीं चाहते, तुम

सिर्फ भला चाहते हो, और बड़े आत्म-सन्तोष से यह सब अपने-आपसे कहते हो; लेकिन अगर तुम विचार करते समय सच्चाई के साथ अपना निरीक्षण करो तो देखोगे कि दिमाग में कभी-कभी घिनौने विचारों का समूह होता है जिसका तुम्हें पता भी नहीं होता।

उदाहरण के लिए, जब तुम्हें कोई चीज़ पसन्द न आये तो तुम्हारी प्रतिक्रियाएँ कैसी होती हैं : कितनी तेज़ी से तुम अपने मित्र को, अपने माता-पिता को, अपने परिचितों को, सबको शैतान के पास भेज देते हो! बिना जाने ही तुम उनके लिए सब तरह की अप्रिय चीज़ों की कामना करते हो! और तुम कैसे कह देते हो : "आह! इस तरह करने से उसे अच्छा पाठ मिलेगा!" और जब तुम आलोचना करते हो : "उसको अपनी ग़लतियों का भान कराना चाहिये!" जब किसी ने तुम्हारे मतानुसार कार्य न किया हो : "इसके लिए उसे सज़ा मिलेगी!" और इसी तरह चलता रहता है।

तुम यह नहीं जानते क्योंकि जब तुम सोचते हो तब अपने-आपको देखते नहीं। कभी-कभी तुम्हें पता लगता है, लेकिन तभी जब वह ज़्यादा ज़ोरदार हो; जब वह सिर्फ आता और गुज़र जाता है तब तुम्हारी नज़र कम ही पड़ती है—वह आता है, प्रवेश करता है और बाहर निकल जाता है। और तब तुम्हें पता लगता है कि अगर तुमने सचमुच पवित्र होना और पूर्ण रूप से 'सत्य' के पक्ष में रहना चाहा हो तो उसके लिए जागरूकता, सच्चाई, निरीक्षण, संयम की आवश्यकता है। और ये सर्वसामान्य बातें नहीं हैं। तुम समझना शुरू करते हो कि पूरी तरह सत्यनिष्ठ होना कठिन है।

तुम आत्म-प्रशंसा करते हो कि तुम्हारे अन्दर बस अच्छी मनोवृत्ति और अच्छे इरादे ही हैं और तुम जो कुछ करते हो किसी के भले के लिए ही करते हो—हाँ, जब तक तुम सचेतन हो और संयम रखते हो, लेकिन जिस क्षण तुम सावधान नहीं होते उसी क्षण हर तरह की चीज़ें तुम्हारे अन्दर होने लगती हैं जिनके बारे में तुम बिलकुल सचेतन नहीं होते और जो बहुत सुन्दर नहीं होतीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २५४-५५

बुद्ध का ध्येय है, निम्न प्रकृति के अज्ञान को जीतना। -श्रीअरविन्द

हमेशा आगे ही आगे देखो

यहाँ एक निश्चित बात है जो स्पष्टता से नहीं कही गयी है, फिर भी बाक़ी सबसे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, वह यह है कि एक ऐसा बुढ़ापा भी है जो वर्षों के संग्रह से भी कहीं अधिक ख़तरनाक और कहीं अधिक वास्तविक है : वह है विकसित होने और प्रगति करने की अक्षमता।

जैसे ही तुम बढ़ना बन्द कर देते हो, जैसे ही तुम प्रगति करना बन्द कर देते हो, जैसे ही तुम ज़्यादा अच्छा होना बन्द कर देते हो, बढ़ना और विकसित होना बन्द कर देते हो, अपने-आपको बदलना बन्द कर देते हो, वैसे ही तुम सचमुच बूढ़े हो जाते हो, यानी, तुम विलय की ओर गिरने लगते हो।

ऐसे युवक हैं जो बूढ़े हैं और ऐसे बूढ़े हैं जो युवक हैं। अगर तुम अपने अन्दर प्रगति और रूपान्तर की इस ज्वाला को सँजोये रखो, अगर तुम सावधानी के साथ आगे बढ़ने के लिए, सब कुछ पीछे छोड़ने के लिए तैयार हो, अगर तुम नयी प्रगति के लिए, नयी उन्नति, नये रूपान्तर के लिए हमेशा खुले रहते हो तो तुम चिरयुवा हो। लेकिन अगर तुम जो पा चुके हो उसी से सन्तुष्ट होकर बैठे रहो, अगर तुम्हें लगता है कि तुम अपने लक्ष्य तक पहुँच चुके हो और अब अपनी कमाई का फल खाने के सिवाय और कुछ करना-धरना नहीं है तो तुम्हारा आधे से अधिक शरीर क़ब्र में जा चुका है, यही जरा और सच्ची मृत्यु है।

जो कुछ किया जा चुका है वह उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है जो करने के लिए बाक़ी है।

पीछे न देखो, सामने देखो, आगे, और आगे, हमेशा आगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २६२-६३

चार उदात्त सत्य

यहाँ प्रश्न चार सत्यों और आठ मार्गों का है जो दुःख के नाश की ओर ले जाते हैं। 'धम्मपद' के अनुसार उनका ब्योरा यह है :

चार उदात्त सत्य हैं :

१. जीवन—सामान्य जीवन, अज्ञान और मिथ्यात्व के जीवन के अर्थ में दुःख के साथ अविच्छेद्य रूप से बँधा हुआ है : शारीरिक

दुःख और मानसिक दुःख।

२. दुःख का कारण कामना है जो विभक्त जीवन की प्रकृति के अज्ञान से उत्पन्न होती है।

३. दुःख से छूटने का, दुःख को रोकने का एक उपाय है।

४. अष्टांग मार्ग का अनुसरण करने से यह मुक्ति प्राप्त होती है जो धीरे-धीरे अज्ञानपूर्ण मानस को पवित्र करती है। चौथा सत्य कहलाता है: अष्टांग मार्ग में समाविष्ट विधि।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २७६

आठ उदात्त मार्ग

उदात्त मार्ग के प्रशिक्षण में नीचे के आठ चरण आते हैं:

१. **सम्यक् दृष्टि**। चीज़ों को जैसी वे हैं वैसा देखना, इसका अर्थ है, एक शुद्ध यथार्थ दृष्टि और उत्तम अन्तर्दृष्टि।

'धम्मपद' कहता है कि अस्तित्व की तीन अवस्थाएँ उसकी विशेषताएँ हैं: दुःख, अनित्यता, निश्चित अहं का अभाव। लेकिन यह एकदम ऐसी बात नहीं है, यह सचमुच एक सुनिश्चित, स्थायी और पृथक् व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक गुच्छे में अभाव है, व्यक्तिगत चेतना में सच्ची निरन्तरता का अभाव है; यही कारण है, कि, उदाहरण के लिए, अपनी सामान्य स्थिति में हमें भूतकाल के जीवनों की स्मृति नहीं रहती, न ही सब अस्तित्वों के आर-पार सचेतन निरन्तरता का भान ही होता है।

सारांश यह है कि सम्यक् दृष्टि होनी चाहिये और सम्यक् दृष्टि का मतलब है यह देखना कि दुःख सामान्य अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है, सब कुछ अनित्य है और यह कि व्यक्तिगत चेतना में निरन्तरता नहीं है।

२. **सम्यक् संकल्प या इच्छा**। किन्तु उसे एक ही शब्द का, "इच्छा का", उपयोग नहीं करना चाहिये था, जब कि उसने अभी-अभी हमसे कहा है कि इच्छाएँ नहीं होनी चाहियें; बल्कि ये "सम्यक् अभीप्साएँ" हैं। "इच्छा" की जगह "अभीप्सा" रखना चाहिये।

"अपने-आपको आसक्तियों से मुक्त करना और सभी प्राणियों का शुभेच्छा के साथ विचार करना।" सारे समय सद्भावना की अवस्था में

रहना। सबके लिए हमेशा अच्छे-से-अच्छे की कामना करना।

३. **सम्यक् वाणी जो किसी को घायल नहीं करती**। अकारण कभी नहीं बोलना चाहिये और द्वेष-भरी वाणी से बहुत सावधानी के साथ बचना चाहिये।

४. **सम्यक् कर्म, ईमानदारी और शान्ति से पूर्ण**। सभी दृष्टिकोणों से, केवल भौतिक ही नहीं, बल्कि नैतिक और मानसिक भी। मानसिक ईमानदारी उन बातों में से है जिन्हें पाना सबसे कठिन है।

५. **सम्यक् जीवन। किसी भी प्राणी के लिए दुःख या ख़तरा न खड़ा करना**। इसे समझना अपेक्षाकृत सरल है। कुछ लोग ऐसे हैं जो इस सिद्धान्त को साधारण समझ के विपरीत अति तक ले जाते हैं; वे ऐसे लोग हैं जो, उदाहरण के लिए, अपने अधरों पर रूमाल रखते हैं ताकि वे कीटाणुओं को निगल न जायें और अपने आगे रास्ता बुहारते चलते हैं ताकि किसी कीड़े पर पाँव न रख दें। यह सब कुछ अति ही लगती है, क्योंकि सारा जीवन ही विनाश से भरा है; लेकिन तुम अगर इस पाठ को सही-सही समझो तो वह कहता है कि किसी भी प्राणी को दुःख पहुँचाने की सब सम्भावनाओं से बचना चाहिये और जान-बूझकर किसी को ख़तरे में नहीं डालना चाहिये। और अगर तुम इस सावधानी और सद्भावना को विश्व के सभी जीवों की ओर बढ़ाओ तो वह तुम्हारे आन्तरिक विकास के लिए बहुत लाभप्रद है।

६. **सम्यक् प्रयास**। निरर्थक चीज़ों के लिए बेकार प्रयत्न न करना, बल्कि अज्ञान को जीतने के प्रयास में और अपने-आपको मिथ्यात्व से मुक्त करने के प्रयास के लिए अपनी सारी शक्ति को सुरक्षित रखना चाहिये: यह कभी भी ज़्यादा नहीं होगा।

७. और सातवाँ सिद्धान्त छठे की पुष्टि करता है : **सम्यक् जागरूकता**। क्रियाशील और सचेतन मनोवृत्ति होनी चाहिये। अर्धनिद्रा में, अर्ध-निश्चेतना

में नहीं जीना चाहिये : तुम जीवन में अपने-आपको यों ही बहने देते हो, जो होना होगा, होगा। सब यही करते हैं। बीच-बीच में तुम जाग जाते हो और अनुभव करते हो कि तुमने समय गँवाया है, तब तुम एक महान् प्रयत्न करते हो और दूसरे ही क्षण दुबारा निष्क्रियता में गिर जाते हो। इससे अच्छा यही है कि कम उग्र चीज़ की जाये किन्तु ऐसी जो ज़्यादा स्थिर हो।

८. और अन्त में : **सम्यक् समाधि**। अहंकारशील विचार वस्तुओं के मूल तत्त्व पर, गभीरतम सत्य को प्राप्त करने-योग्य लक्ष्य पर केन्द्रित हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २७६-७८

व्यस्तताहीन क्षण का सही उपयोग

जीवन के प्रवाह में कितनी ही बार एक तरह का ख़ालीपन आता है, एक व्यस्तताहीन क्षण, कुछ मिनट, कभी-कभी ज़्यादा भी। तब तुम क्या करते हो? उसी क्षण तुम दिल बहलाव की चेष्टा करते हो और अपना समय काटने के लिए कोई-न-कोई मूर्खता खोज निकालते हो। यह एक सामान्य तथ्य है, मनुष्य, छोटे से लेकर बड़े तक, अपने समय का अधिकांश अपने-आपको ऊब से बचाने में बिताता है। उसके लिए ऊब ही सबसे बड़ा हौआ है और ऊब से बचने का उपाय है, बहुत सारी मूर्खताएँ करना।

ख़ैर, एक और उपाय है जो उससे कहीं अधिक अच्छा है : वह है स्मरण करना।

जब तुम्हारे पास थोड़ा समय हो, चाहे वह एक घण्टा हो या कुछ मिनट, अपने-आपसे कहो : "आख़िर! अपने-आपको केन्द्रित करने का, अपने-आपको इकट्ठा करने का, अपने जीवन के मूल कारण को फिर से जीने का और जो 'सत्य' और 'सनातन' है उसे अपने-आपको समर्पित करने का मेरे पास समय है।" हर बार जब तुम बाहरी परिस्थितियों से परेशान न होओ तब अगर तुम यह करने की सावधानी बरतो तो देखोगे कि तुम राह पर बहुत जल्दी बढ़ते जा रहे हो। अपना समय बकवास में, अनावश्यक चीज़ें करने में और ऐसी चीज़ें पढ़ने में गँवाने की जगह, जो चेतना को गिराती हैं—यह तो अच्छी-से-अच्छी दशाओं के चुनाव की बात है, मैं दूसरी मूर्खताओं की बात ही नहीं करती जो बहुत ज़्यादा गम्भीर होती हैं—अपने

को चकराने की जगह, ऐसा करने की जगह कि समय जो पहले से ही कम है और भी कम हो जाये और फिर देखना कि जीवन के अन्त में हमने तीन-चौथाई अवसर खो दिये हैं—तब फिर तुम दोनो हाथों से कौर निगलने लगते हो, लेकिन उससे कोई फ़ायदा नहीं होता—ज़्यादा अच्छा है संयत होना, सन्तुलित होना, धैर्यवान् होना, शान्त होना और दिये गये अवसर को कभी न गँवाना। इसका मतलब है कि तुम्हारे सामने जो मिनट व्यस्तताहीन होता है उसका सच्चे ध्येय के लिए उपयोग करना।

जब तुम्हारे पास करने के लिए कुछ न हो तो तुम क्षुब्ध हो उठते हो, तुम भागते फिरते हो, मित्रों से मिलने चले जाते हो, घूमने निकल पड़ते हो—मैं मात्र अच्छी चीज़ों की ही बात कर रही हूँ, मैं उन चीज़ों की बात नहीं करना चाहती जो स्पष्ट रूप से ऐसी हैं जिन्हें नहीं करना चाहिये—इन सबकी जगह शान्तिपूर्वक, तुम्हारे लिए जो सम्भव हो उसके अनुसार, आकाश के नीचे, समुद्र के सामने या पेड़ों तले बैठ जाओ (यहाँ तो सब कुछ है), और इनमें से किसी एक चीज़ को सिद्ध करने की कोशिश करो, यह समझने की कोशिश करो कि तुम क्यों जीवित हो और यह सीखने की कोशिश करो कि किस तरह जीना चाहिये। इस पर विचार करो कि तुम क्या करना चाहते हो और क्या करना चाहिये। 'अज्ञान', 'मिथ्यात्व' और 'दुःख', जिसमें तुम जीते हो, उससे बच निकलने का उत्तम उपाय क्या है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २७८-७९

अपनी चिन्ता करना छोड़ कर फूल की तरह खिलो

अपने विषय में सोचना न पड़े, अपनी ज़िम्मेदारी उठानी न पड़े, यह एक अवर्णनीय आनन्द है। यह चिन्ता करना कि क्या करना चाहिये, और क्या नहीं करना चाहिये, तुम्हारे लिए क्या अच्छा है, तुम्हारे लिए क्या बुरा है, किस चीज़ से बचना चाहिये, किस चीज़ को प्राप्त करना चाहिये, यह सब सोचना कितना उबाऊ है; लेकिन जब तुम इस तरह जीते हो, पूरी तरह खुले हुए, सूर्य के सामने खिलते फूल की तरह, 'सर्वोच्च चेतना' के सामने, 'सर्वोच्च ज्ञान', 'सर्वोच्च प्रकाश', 'सर्वोच्च प्रेम' के सामने, जो सब कुछ जानता है, सब कुछ कर सकता है, जो तुम्हारा उत्तरदायित्व ले लेता है और तुम्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती, यह है आदर्श स्थिति।

तो फिर, व्यक्ति ऐसा करते क्यों नहीं?

तुम उसके बारे में सोचते ही नहीं, तुम यह करना भूल जाते हो, पुरानी आदतें लौट आती हैं और अधिक महत्त्वपूर्ण है, निश्चेतना या अवचेतना के किसी भाग में छिपा हुआ या उनके पीछे, यह धोखेबाज़ सन्देह जो तुम्हारे कान में चुपके से आकर कहता है: "ओह! अगर तुम सावधान नहीं रहे तो दुःख आयेगा। अगर तुम अपने ऊपर निगरानी करना भूल गये तो पता नहीं तुम्हारे ऊपर क्या बीते..." और तुम इतने मूर्ख हो, इतने मूर्ख, इतने अन्धकारमय हो, इतने बुद्धू हो कि उसकी सुनते हो—फिर अपने ऊपर ध्यान देने लगते हो, और सब नष्ट हो जाता है।

अपने कोषाणुओं में फिर से, थोड़ी-बहुत समझदारी, थोड़ी-बहुत सद्बुद्धि और एक बार उँडेलनी होगी और अपनी चिन्ता न करना फिर से सीखना होगा। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २८६-८७

अच्छाई से प्रेम के कारण अच्छा बनना चाहिये

हाँ, अपने-आपको सब्ज़बाग़ न दिखाते रहना कि अगर हम सच्ची राह का अनुसरण करना चाहते हैं, अगर हम नम्र हैं, अगर हम पवित्रता को खोजते हैं, अगर हम निःस्वार्थ हैं, अगर हम एकान्त में रहना चाहते है और शुद्ध विवेक चाहते हैं तो चीज़ें आसान होंगी...। एकदम उलटी बात है! जब हम आन्तरिक और बाह्य पूर्णता की ओर बढ़ने लगते हैं तब उसी समय हमारी मुसीबतें शुरू हो जाती हैं।

मैंने बहुत बार लोगों को यह कहते सुना है: "ओह! अब जब मैं अच्छा बनने की कोशिश करता हूँ तो ऐसा लगता है कि सब मेरे साथ दुष्टतापूर्ण व्यवहार करते हैं!" लेकिन यह ख़ास तुम्हें यह सिखाने के लिए होता है कि स्वार्थ-भरे उद्देश्य के साथ अच्छा नहीं बनना चाहिये, इसलिए भी अच्छा नहीं बनना चाहिये कि दूसरे तुम्हारे साथ अच्छा व्यवहार करें —अच्छा बनने के लिए अच्छा बनना चाहिये।

हमेशा एक ही पाठ सीखना होता है: जितना अच्छा कर सकते हो करते चलो, जितना कर सको, उससे अधिक अच्छा करो; लेकिन परिणाम की आशा के बिना, परिणाम के बारे में सोचे बिना। यह मनोवृत्ति, अपने अच्छे कार्य के लिए पुरस्कार की आशा करना—अच्छा इसलिए बनना कि

हम सोचते हैं कि उससे जीवन अधिक सरल होगा—अच्छे कार्य के सारे मूल्य को घटा देता है।

अच्छाई के प्रेम के कारण अच्छा बनना चाहिये, ईमानदारी के प्रेम के कारण ईमानदार होना चाहिये, पवित्रता के प्रेम के कारण पवित्र होना चाहिये और निःस्वार्थता से प्रेम के कारण निःस्वार्थ होना चाहिये; तब तुम राह पर आगे बढ़ोगे, यह बात निश्चित है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २९५-९६

सच्चा आनन्द पाना

"न नैतिकता के नियमों से और व्रतों से, न महाज्ञान से, न ध्यान करने से, न एकान्त-सेवन से, न सोचने से," सच्चा आनन्द पाया जाता है, बल्कि सब इच्छाओं से मुक्त होने से ही यह पाया जाता है। सब इच्छाओं से मुक्त होना निश्चय ही आसान बात नहीं है, कभी-कभी उसमें सारा जीवन ही बीत जाता है। और सच कहा जाये तो यह तरीक़ा अधिक नकारात्मक लगता है, हालाँकि विकास की एक अवस्था में अनुशासन के रूप में इसका प्रयोग बहुत उपयोगी होता है, बल्कि अगर हम अपने-आपको धोखा न देना चाहें तो अनिवार्य भी। क्योंकि शुरुआत में तुम बड़ी इच्छाओं से मुक्त होने का प्रयास करते हो, ऐसी इच्छाओं से जो एकदम स्पष्ट हैं और जो तुम्हें इतना ज़्यादा परेशान करती हैं कि तुम्हें उनके बारे में कोई ग़लतफ़हमी नहीं रहती, उनसे मुक्त होने का प्रयास करते हो। फिर आती हैं वे अधिक सूक्ष्म इच्छाएँ जो ऐसी चीज़ों का रूप लेती हैं जिन्हें करना चाहिये, जो आवश्यक हैं, और कभी-कभी अन्दर से आते आदेश का रूप ले लेती हैं और तब उन्हें खोज पाने के लिए और उन पर विजय प्राप्त करने के लिए बहुत समय और अधिक सच्चाई की ज़रूरत होती है। अन्त में ऐसा लगता है कि बाह्य वस्तुओं के लिए पार्थिव जगत् में, भावों और स्पन्दनों के लिए भावनात्मक जगत् में, विचारों के लिए मानसिक जगत् में तुमने इन अभिशप्त इच्छाओं से पिण्ड छुड़ा लिया है; किन्तु यह देखो, वे तुम्हें फिर से आध्यात्मिक जगत् में आ मिलती हैं और वहाँ वे बहुत अधिक ख़तरनाक, अधिक सूक्ष्म, अधिक तीव्र और बहुत अधिक अदृश्य होती हैं और अपने-आपको इतने पवित्र वेश में ढक लेती हैं कि तुम उन्हें इच्छा कहने की हिम्मत नहीं कर पाते।

और जब तुम इन सब पर विजय प्राप्त कर चुकते हो, उन्हें ढूँढ़ पाते हो, उन्हें उखाड़ पाते हो और उनसे मुक्त हो जाते हो तब भी यही कहा जायेगा कि तुमने कार्य का नकारात्मक रूप ही किया है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ३००-०१

अहंकार से छुटकारा पाने का सबसे तेज़ तरीक़ा

बुद्ध ने कहा है या उनसे कहलवाया गया है कि जब तुम सब इच्छाओं से मुक्त हो जाते हो तो स्वाभाविक रूप से ही असीम आनन्द में प्रवेश पा लेते हो। शायद यह परमानन्द कुछ रूखा-सूखा है और कम-से-कम मुझे तो राह पर सबसे जल्दी ले जाने वाला मार्ग नहीं लगता।

यदि तुम्हें समस्या से शुरू में ही निपटना हो तो साहस और दृढ़ता से कूद पड़ो और इच्छाओं के पीछे लम्बी, श्रमसाध्य, कष्टकर और धोखा देने वाली मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने की जगह, सरलता से, पूर्ण रूप से, बिना शर्त के अपने-आपको 'परम सत्' को, 'परम संकल्प' को, 'परम आत्मा' को दे दो। उत्साह के साथ अपनी सारी सत्ता को और सत्ता के सब भागों को बिना हिसाब किये भगवान् को दे देना—यही अहं से छूटने का सबसे छोटा रास्ता और सबसे मौलिक उपाय है। तुम कहोगे कि यह करना मुश्किल है, लेकिन कम-से-कम इसमें ऊष्मा, उमंग, उत्साह, ज्योति, सौन्दर्य हैं, इसमें एक उमंग-भरा और सर्जनात्मक जीवन है।

यह बात सच है कि इच्छा के बिना अहं को प्रश्रय देने के लिए कोई ख़ास चीज़ नहीं रहती और तुम्हें यह प्रतीति होती है कि चेतना इतनी ज़्यादा कंटकाकीर्ण बन जाती है कि अगर अहं मिट्टी में मिल जाये तो तुम्हारे स्वत्व की कोई चीज़ भी मिट्टी में मिल जाती है, और तुम निर्वाण में जाने के लिए तैयार हो जाते हो जो विशुद्ध रूप से और सीधा-सादा विनाश है।

लेकिन हम यहाँ जिसे सच्चा निर्वाण मानते हैं वह है, परम प्रभु की गरिमा में अहं का अदृश्य हो जाना। और इस उपाय को मैं सकारात्मक उपाय कहती हूँ, सर्वांगीण, समग्र, सम्पूर्ण, बिना कुछ बचाये, बिना व्यापार का आत्म-दान।

इस घटना-मात्र से ही कि तुम अपने विषय में न सोच कर, केवल अपने लिए न जीकर, केवल अपने लिए कुछ न करके, जो अधिक-से-

अधिक सुन्दर है, ज्योतिर्मय है, आनन्दमय है, शान्तिमय है, करुणामय है, असीम है, उसके विषय में सोचते हो, इतना गभीर आनन्द देता है कि उसकी तुलना और किसी भी चीज़ से नहीं की जा सकती।

इसी एक चीज़ का मूल्य है जिसके लिए **प्रयत्न** किया जाना चाहिये। बाक़ी सब तो बस समय बिताना है।

एक पहाड़ पर धीरे-धीरे, मेहनत से, क़दम-क़दम करके, घूम-फिरकर सदियों में चढ़ पाने और अदृश्य पंखों को खोल कर सीधा शिखर तक उड़ जाने में यही फ़र्क है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ३०१-०२

मुसीबतों से भागना कोई हल नहीं है

हमने यह देखा है कि जो लोग जंगल में जाकर अकेले रहते हैं उनमें से अधिकतर उन सब प्राणियों और उन सब पौधों के मित्र बन जाते हैं, जो उनके आस-पास होते हैं; पर यह यथार्थ में वह एकाकीपन नहीं है जो तुम्हें आन्तरिक ध्यान में प्रवेश करने की और 'परम सत्य' के साथ तादात्म्य में जीने की शक्ति देता है। शायद यह अधिक आसान हो जब परिस्थितियों के दबाव के कारण तुम्हारे पास करने के लिए कुछ भी न हो, लेकिन मुझे यक़ीन नहीं है। व्यक्ति हमेशा कुछ-न-कुछ काम खोज निकालेगा और जीवन के अपने अनुभव के अनुसार मुझे लगता है कि भागवत 'कृपा' ने हमें जो परिस्थितियाँ दी हैं उन्हें रखते हुए अगर हम मुसीबतों के बीच अपने स्वभाव के ऊपर प्रभुत्व पा सकें, अगर शाश्वत उपस्थिति के साथ आन्तरिक रूप से एकाकी रहने का प्रयत्न करें तो हमें जो सिद्धि प्राप्त होगी वह अत्यधिक सच्ची, गभीर और स्थायी होगी।

मुसीबतों को जीतने के लिए उनसे भागना कोई हल नहीं है। यह बड़ा लुभावना है। जो आध्यात्मिक जीवन की खोज में हैं उनमें कोई चीज़ होती है जो कहती है: "ओह! एकदम अकेले किसी पेड़ के नीचे जा बैठना, ध्यानमग्न रहना, बोलने या कुछ करने के प्रलोभन में न पड़ना, यह कितना अच्छा होगा!" क्योंकि इस भाव की एक बहुत मज़बूत रचना है, लेकिन वह है बहुत अधिक भ्रान्तिपूर्ण।

सबसे अच्छे ध्यान वे होते हैं जो तुम हठात् करते हो, क्योंकि वे तुम

पर अनिवार्य आवश्यकता की तरह हावी हो जाते हैं। तुम अपने-आपको एकाग्र किये बिना, ध्यान किये बिना, बाहरी रंग-रूप के परे देखे बिना नहीं रह सकते। और यह आवश्यक नहीं है कि यह ध्यान जंगल के एकान्त में ही तुम्हें पकड़े, यह तब आता है जब तुम्हारे अन्दर कोई चीज़ तैयार हो, जब वह समय आ जाये, जब सच्ची आवश्यकता हो, जब भागवत करुणा और कृपा तुम्हारे साथ हों।

मेरी समझ में मानवजाति ने प्रगति की है और सच्ची विजय वह है जिसे वह जीवन में प्राप्त कर सके।

सब परिस्थितियों के बीच 'शाश्वत' और 'असीम' के साथ कैसे अकेले रहा जाये, तुम्हें यह जानना चाहिये। सभी व्यस्तताओं के बीच परमेश्वर को साथी के रूप में रख कर स्वतन्त्र रहना जानना चाहिये। यही वास्तव में सच्ची विजय है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ३११-१२

सच्ची सच्चाई

अगर दुर्भावना से भरे लोग तुम्हारे बारे में बेहूदा बातें करें और तुम उनसे चिन्तित हो जाओ, दुःखी हो जाओ या निराश हो जाओ तो तुम मार्ग पर बहुत आगे न बढ़ पाओगे। और जब ये चीज़ें तुम्हारे पास आती हैं तो इसलिए नहीं कि तुम अभागे हो या तुम्हारा भाग्य सुखमय नहीं है; बल्कि, इसके विपरीत, इसलिए कि दिव्य 'चेतना' और दिव्य 'कृपा' तुम्हारे निश्चय को गम्भीरता से लेती हैं और परिस्थितियों को रास्ते के रोड़े बनने देती हैं, यह देखने के लिए कि क्या तुम्हारा निश्चय सच्चा है और क्या तुम मुसीबतों का सामना करने के लिए काफ़ी मज़बूत हो।

इसलिए, अगर कोई तुम्हारा मज़ाक उड़ाये या कुछ ऐसी बात कहे जो बहुत सद्भावनापूर्ण न हो तो करने-लायक़ सबसे पहली चीज़ यह है कि अपने अन्दर देखो कि कौन-सी ऐसी दुर्बलता या अपूर्णता है जिसने इस तरह की वस्तु को आने दिया। तुम जिसे अपना उचित मूल्य समझते हो लोग उसकी प्रशंसा नहीं करते—इससे निराश न होओ, क्रोध न करो, दुःखी मत होओ। इसके बदले तुम दिव्य 'कृपा' का आभार मानो कि उसने तुम्हारी उस दुर्बलता या अपूर्णता या विकृति पर उँगली रख दी है जिसे

तुम्हें ठीक करना है।

अतः, दुःखी होने की जगह, तुम पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो सकते हो और लोग तुम्हें जो हानि पहुँचाना चाहते थे उसके स्थान पर लाभ, एक बड़ा लाभ उठा सकते हो।

इसके अतिरिक्त, यदि तुम सचमुच मार्ग का अनुसरण करना चाहते हो और योग करना चाहते हो तो वह इसलिए नहीं करना चाहिये कि लोग तुम्हारी प्रशंसा करें और तुम्हें सम्मान दें, बल्कि इसलिए कि वह तुम्हारी सत्ता की सर्वप्रथम आवश्यकता है और उसके बिना तुम सुखी नहीं रह सकते। लोग तुम्हारी प्रशंसा करते हैं या नहीं करते, इसका किसी तरह का कोई महत्त्व नहीं है। तुम शुरू से ही अपने-आपसे कह सकते हो कि तुम सामान्य मनुष्य से जितनी दूर जाओगे, सामान्य होने के ढंग से अपरिचित होओगे, एकदम स्वाभाविक रूप से उतनी ही तुम्हारी प्रशंसा कम होगी, क्योंकि लोग तुम्हें समझ न पायेंगे। और मैं फिर दोहराती हूँ, उसका किसी तरह का कोई महत्त्व नहीं है।

सच्ची सच्चाई है राह पर आगे बढ़ते जाना, क्योंकि तुम उसके अतिरिक्त कुछ कर ही नहीं सकते; अपने-आपको दिव्य जीवन के लिए समर्पित करना, क्योंकि उसके अतिरिक्त तुम और कुछ कर ही नहीं सकते; सच्ची सच्चाई है अपनी सत्ता को परिवर्तित करने का प्रयत्न करना और प्रकाश की ओर उठना, क्योंकि उसके अतिरिक्त तुम और कुछ कर ही नहीं सकते, क्योंकि वही तुम्हारे जीवन का एकमात्र उद्देश्य है।

जब हालत ऐसी हो तब तुम निश्चित हो सकते हो कि तुम ठीक राह पर हो। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ३२०-२१

दुःखों से मुक्ति

और एक चीज़ है जिसका उल्लेख यहाँ, 'धम्मपद' में, नहीं किया गया है : एक परम अनासक्ति और परम मुक्ति का अर्थ है—आत्म-परिपूर्णता के अनुशासन का पालन करना, प्रगति के, यानी, आगे बढ़ने के अभियान में हिस्सा लेना, लेकिन उस निश्चित उद्देश्य के लिए नहीं जिसका यहाँ वर्णन मिलता है, यानी, निर्वाण की मुक्ति के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि प्रगति का यह अभियान पार्थिव जीवन का, वैश्व अस्तित्व के सत्य का गहन

विधान और अस्तित्व-हेतु है, और परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो, हम सहज रूप से उसके साथ क़दम से क़दम मिला कर चलेंगे।

भागवत कृपा में एक गभीर विश्वास, भागवत इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण, दिव्य योजना में पूर्ण निष्ठा, ये वे चीज़ें हैं जो परिणाम की चिन्ता किये बिना जो चीज़ करनी चाहिये तुमसे वही करवाती हैं, और यही है सम्पूर्ण मुक्ति।

यह, यह है दु:ख का सच्चा उन्मूलन, चेतना एक निर्विकार आनन्द से भर उठती है। और प्रत्येक पग तुम्हें एक अद्‌भुत वैभव दिखलाता है।

मानव प्रगति को बुद्ध ने जो दिया है उसके लिए हम उन्हें धन्यवाद देते हैं और, जैसा कि मैंने शुरू में कहा था, उन्होंने हमें जो सुन्दर चीज़ें सिखलायी हैं, हम उन्हें थोड़ा-बहुत प्राप्त करने की कोशिश करेंगे; किन्तु हम अपने उद्देश्य और प्रयत्नों के परिणाम को उस 'परम ज्ञान' के ऊपर छोड़ देंगे जो समस्त बोध से परे है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ३४१-४२

श्रीमाँ के शब्दों में गौतम बुद्ध की दो कथाएँ

एक नवयुवक ब्रह्मचारी बड़ा चतुर था और वह अपने इस गुण को जानता भी था। उसकी बड़ी इच्छा थी कि वह अपनी योग्यताएँ अधिक-से-अधिक बढ़ाये ताकि सर्वत्र उसकी प्रशंसा हो। इसके लिए उसने एक के बाद एक कई देशों की यात्रा की।

एक तीर बनाने वाले के यहाँ उसने तीर बनाना सीखा।

कुछ दूर आगे जाकर उसने नाव बनाना तथा उसे खेना सीखा।

एक जगह उसने गृह-निर्माण की कला सीखी।

फिर अन्य जगहों में उसने कुछ और कलाएँ सीखीं।

इस प्रकार वह सोलह देशों का पर्यटन कर वापिस घर लौटा और बड़े गर्व के साथ कहने लगा, "इस पृथ्वी पर मेरे समान गुणी मनुष्य और कौन है?"

एक दिन भगवान् बुद्ध ने उस ब्रह्मचारी को देखा और उन्होंने सोचा कि उसे ऐसी कला की शिक्षा देनी चाहिये जो उन सबसे, जो उसने अब तक सीखी हैं, अधिक महान् हो। वे एक बूढ़े श्रमण का रूप धारण करके उस नवयुवक के पास गये। उनके हाथ में एक भिक्षापात्र था।

"आप कौन हैं?" ब्रह्मचारी ने प्रश्न किया।

"मैं एक ऐसा मनुष्य हूँ जो अपने-आपको वश में रख सकता है।"

"आपके कहने का तात्पर्य?"

"एक धनुर्वेदी तीर चलाना जानता है," बुद्ध ने उत्तर दिया, "एक नाविक नाव खेता है; एक शिल्पी अपनी देख-रेख में मकान बनवाता है; पर एक ज्ञानी स्वयं अपने ऊपर शासन करता है।"

"वह कैसे?"

"यदि कोई उसकी प्रशंसा करे तो उसका मन चञ्चल नहीं होता; यदि कोई उसकी निन्दा करे तो भी वह शान्त रहता है; वह सर्वहित के महानियम के अनुसार कर्म करता है और इस प्रकार वह सदा शान्ति में निवास करता है।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १९८-९९

मुर्गी और उसके बच्चों का एक दृष्टान्त सुनो:

गौतम बुद्ध अपने शिष्यों से कहते थे कि तुम अपनी ओर से पूरा-पूरा प्रयत्न करो और विश्वास रखो कि उन प्रयत्नों का फल तुम्हें मिलेगा ही।

वे कहा करते थे, "जिस प्रकार मुर्गी अण्डे देकर उन्हें सेती है और इस बात की ज़रा भी चिन्ता नहीं करती कि उसके बच्चे अपनी चोंचों से अण्डे फोड़ कर दिन के प्रकाश में आ जाने में समर्थ होंगे या नहीं, उसी प्रकार तुम्हें भी डरना नहीं चाहिये। 'सत्य मार्ग' पर दृढ़ रहोगे तो तुम भी प्रकाश तक पहुँचोगे।"

ठीक राह पर चलना, विपत्तियों, आँधियों, अन्धकार और दुःख का सामना करना, डटे रहना, कुछ भी हो जाये, सदा आगे प्रकाश की ओर बढ़ने के प्रयत्न में लगे रहना—यही सच्चा साहस है।

बुद्ध हमेशा विश्व के आदि और अन्त के बारे में तात्त्विक प्रश्नों का उत्तर देने से साफ़ इन्कार किया करते थे। वे कहते थे: बस एक ही बात का महत्त्व है; मार्ग पर आगे बढ़े चलो, यानी, अपनी आन्तरिक शुद्धि करो, अपने अन्दर समस्त अहंकार-भरी इच्छा का नाश कर दो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. २०८, ९९

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

मई

१. अपने आदर्श के प्रति हमेशा निष्ठावान् रहो और अपना कार्य निरन्तर भगवान् के अर्पण करते रहो।

२. तुम जो कुछ करो उसमें रस लेने की कोशिश करो।
तुम जो कर रहे हो, उसमें तुम्हें रस हो तो आनन्द भी आयेगा।
तुम जो कर रहे हो उसमें रस लेने के लिए तुम्हें अधिकाधिक अच्छी तरह करने की कोशिश करनी चाहिये।

३. तुमने जो काम हाथ में लिया है उसमें सच्चे रहो तो भागवत कृपा हमेशा तुम्हारी सहायता के लिए मौजूद रहेगी।

४. मानव सत्ता विभिन्न भागों से बनी है, जो कभी-कभी स्पष्ट रूप से अलग-अलग होते हैं। वे केवल चैत्य प्रभाव और क्रिया के नीचे एक हो सकते हैं। अपने उद्यम में डटे रहो और तुम निश्चित रूप से सफल होओगे।

५. अप्रिय विचार अप्रिय भावनाएँ लाता है—अप्रिय भावनाएँ तुम्हें भगवान् से दूर ले जाती हैं और तुम्हें उस शैतान के हाथों में निःशस्त्र फेंक देती हैं जो तुम्हें केवल हड़प लेना चाहता है—और यही अनन्त दुःख और कष्ट का मूल है।

६. हमारा मन नीरव और अचञ्चल होना चाहिये, लेकिन हमारा हृदय उत्कट अभीप्सा से भरपूर।

७. महान् अज्ञान व्यक्ति से अन्धकार और विनाश की शक्तियों के सुझावों को उत्तर दिलवाता है। भगवान् की अपार दया के प्रति सच्ची कृतज्ञता के भाव के द्वारा व्यक्ति ऐसे संकटों से बच सकता है।

८. हमेशा विरोधी शक्तियों के बारे में सोचते रहना और उनसे डरना बहुत भयानक दुर्बलता है।

९. मैं इस बात पर आग्रह करती हूँ कि अपने अन्दर चेतना की एकता पाने का प्रयत्न करना और परिणामस्वरूप अपने कार्य का रूपान्तर करना भाषणों और लेखों से अनन्तगुना अधिक प्रभावकारी है।

१०. अगर तुम धरती पर शान्ति चाहते हो तो पहले अपने हृदय में शान्ति स्थापित करो। अगर तुम जगत् में ऐक्य चाहते हो तो पहले स्वयं अपनी सत्ता के विभिन्न भागों को एक करो।

११. तुम्हें अपने अन्दर अधिकाधिक उचित दृष्टि और आन्तरिक शक्ति ग्रहण करने और उनका सञ्चार करने की शक्ति विकसित करनी चाहिये और यह काम तात्कालिक विजय या पराजय से उल्लसित या क्षुब्ध हुए बिना, शान्ति और धीरज के साथ करना चाहिये।

१२. कार्य भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण करने का साधन है, लेकिन उसे आवश्यक आन्तरिक चेतना के साथ करना चाहिये, जिसमें बाहरी प्राण और शरीर भी भाग लें।

१३. तुम्हारे निकट ही हर समय एक बल रहता है जिसे तुम अपने अन्दर बुला सकते हो; वह थकान, बेचैनी इत्यादि चीज़ों को दूर कर देगा, लेकिन उसे ग्रहण करने के लिए तुम्हें अचञ्चल होना सीखना चाहिये।

१४. भौतिक वस्तुओं में व्यवस्थित सामञ्जस्य और व्यवस्था निपुणता और पूर्णता के आवश्यक भाग हैं और यन्त्र को, दिये गये किसी भी काम के योग्य बना देते हैं।

१५. सतत आन्तरकि विकास द्वारा ही हम सदा नवीनता और जीवन में अक्षय रस पा सकते हैं। और कोई सन्तोषजनक उपाय नहीं है।

१६. कार्य के सुव्यवस्थित प्रबन्ध के लिए अनिवार्य नियम हैं, क्योंकि व्यवस्था और प्रबन्ध के बिना कोई चीज़ ठीक ढंग से नहीं की जा सकती, उसके बिना सब कुछ संघर्षमय, अस्तव्यस्ततापूर्ण और अव्यवस्थित बन जाता है।

१७. भौतिक चीज़ों का बुरी तरह से उपयोग, लापरवाही से उन्हें तोड़ना, फोड़ना, अपव्यय या दुरुपयोग, यौगिक चेतना को अस्वीकारना है और भागवत सत्य को नीचे, भौतिक स्तर पर उतारने में बड़ी बाधा है।

१८. जब तक मन इधर-उधर कूदता-फाँदता रहे या बाहरी चीज़ों की ओर दौड़ता रहे तब तक अन्तर्मुख, प्रकृतिस्थ और अन्दर से सचेतन होना सम्भव नहीं है।

१९. ऐसा कौन है जो योगाभ्यास करता है परन्तु जिसमें निराशा, असफलता, अविश्वास और अन्धकार की अवधियाँ, लम्बी अवधियाँ न आती

हों। लेकिन कोई चीज़ है जो उसे सहारा देती है और स्वयं उसके बावजूद चलती जाती है क्योंकि वह अनुभव करती है कि वह जिसका अनुसरण कर रही है वह सच है, अनुभव और लगन से भी बढ़ कर, वह उसे जानती है।

२०. अगर हमारे चारों ओर ऐसी शक्तियाँ हमेशा बनी रहती हैं जो अवसाद लाने और हतोत्साह करने में लगी रहती हैं तो हमेशा हमारे चारों ओर और हमारे ऊपर ऐसी शक्तियाँ भी रहती हैं जिनसे हम सहायता पा सकते हैं, जिन्हें हम अपने अन्दर खींच सकते हैं ताकि वे हमें फिर से उस बल, श्रद्धा, आनन्द और शक्ति से भर दें जो अध्यवसायपूर्वक कार्य करती और विजय लाती है।

२१. तुम्हें कहना चाहिये, "चूँकि मैं केवल भगवान् को चाहता हूँ इसलिए मेरी सफलता निश्चित है। मुझे केवल सम्पूर्ण विश्वास के साथ आगे बढ़ते चलना है और स्वयं उनका हाथ, उनके मार्ग से, उन्हीं के समय पर, उन तक सुरक्षा के साथ पहुँचाने के लिए रहेगा।"
इसे तुम्हें अपने सतत मन्त्र की तरह रखना चाहिये।

२२. तुम और किसी भी चीज़ पर सन्देह कर सकते हो, लेकिन जो केवल भगवान् को पाना चाहता है वह भगवान् तक अवश्य पहुँचेगा यह निश्चित है, और दो और दो चार से भी ज़्यादा निश्चित है। हर साधक के हृदय की तली में यह श्रद्धा होनी चाहिये, यह हर लड़खड़ाहट, हर प्रहार और हर अग्निपरीक्षा में सहारा देती है।

२३. योग में जिस शक्ति की आवश्यकता है वह है प्रयास, कठिनाई और कष्टों में से बिना थके, उदास हुए, साहस छोड़े और प्रयत्न को छोड़े या अपने लक्ष्य अथवा निश्चय को छोड़े बिना आगे बढ़ने की शक्ति।

२४. जिसने भगवान् के साथ एक होने और उन्हें प्रकट करने के जैसा महान् लक्ष्य अपने सामने रखा है वह भला जीवन की समस्त तुच्छ और मूर्खतापूर्ण चीज़ों से कैसे प्रभावित हो सकता है?

२५. हम अपने अन्दर एक शाश्वत चेतना को लिये हुए हैं और हमें उसी के विषय में सचेतन होना चाहिये।

२६. किसी चीज़ से नहीं डरो, भगवान् सभी सच्ची अभीप्साओं का हमेशा उत्तर देते हैं और उन्हें जो कुछ सहर्ष समर्पित किया जाता है उसे

कभी अस्वीकार नहीं करते।

२७. तुम जितना अधिक खिन्न रहोगे और जितना अधिक विलाप करोगे उतना ही अधिक मुझसे दूर होते जाओगे। भगवान् खिन्न नहीं हैं और भगवान् को पाने के लिए तुम्हें सारी खिन्नता और हृदय की सारी दुर्बलताओं को अपने अन्दर से दूर फेंक देना होगा।

२८. वास्तव में प्राण ही निरन्तर माँग करता है और कभी सन्तुष्ट नहीं होता। चैत्य सत्ता, हृदय की सच्ची और गहरी भावनाएँ सदा सन्तुष्ट रहती हैं और कभी किसी चीज़ की माँग नहीं करतीं।
वास्तव में शुद्ध और निःस्वार्थ प्रेम से अधिक सुखी बनाने वाली दूसरी कोई चीज़ नहीं है।

२९. निश्चय ही, अपने-आपमें अधिक न डूबे रहना हमेशा लाभदायक है। अगर तुम अपना काम एक ऐसे उत्सर्ग के रूप में करो जिसे तुम पूरी सच्चाई के साथ भगवान् के चरणों में अर्पित करते हो, तो वह काम उतना ही लाभदायी बन जायेगा जितना कि ध्यान।

३०. वास्तव में सत्ता के अन्दर सच्चे चैत्य जीवन का प्रकट होना ही है शान्ति, प्रफुल्ल शान्ति। दुःख के प्रति अपने आकर्षण को दूर करने के लिए हमें दुःखों के विविध कारणों की दृढ़ता और तुच्छ अहं-भावना को समझना होगा।

३१. सुन्दर-से-सुन्दर विचार भी हमारी उन्नति में तब तक सहायक नहीं हो सकते जब तक कि हमारे अन्दर उन्हें अधिक उच्च भावनाओं, यथार्थ संवेदनों तथा अधिक श्रेष्ठ कार्यों में उतारने का दृढ़ संकल्प न हो।

बरसात के बाद खुली खिड़की के पास माँ और बेटा दोनों खड़े थे। माँ ने नीचे देखा और अकुला कर बोलीं–'देखो बेटा, इस बरसात से रास्ते पर कितनी कीचड़ हो गयी है। कितनी गन्दा लग रहा है।' तभी बेटा ख़ुशी से बोल पड़ा–'माँ, ऊपर देखो तो सही, आसमान में कितना सुन्दर इन्द्रधनुष दिख रहा है।' खिड़की एक ही थी। दृश्य भी एक ही था। माँ की दृष्टि नीचे थी, बेटे की दृष्टि ऊपर थी। माँ अपने नज़रिये के कारण दुःखी थी, लेकिन बेटा प्रसन्न था। निष्कर्ष यह कि हमारी ख़ुशी और नाख़ुशी घटना पर निर्भर नहीं होती। निर्भर करती है हमारी सोच पर।

श्रीअरविन्द का पूर्णयोग

पूर्णयोग में ज्ञानयोग का समावेश इस प्रकार हुआ है कि प्रथम हमें अन्तरात्मा को जाग्रत् कर, उसे अज्ञान-सुषुप्ति से उठा कर सम्मुख लाने का जी-जान से प्रयत्न करना होता है। ज्यों-ज्यों साधना द्वारा कामना-वासना आदि की ग्रन्थियाँ टूटती जायेंगी त्यों-त्यों उसे विकसित होने का अवसर मिलता जायेगा। ज्यों-ज्यों वे बाहर आती जायेंगी त्यों-त्यों अन्तरात्मा के प्रकाश द्वारा बाधाएँ हटती जायेंगी और मन-प्राण पर वह अपना प्रभुत्व जमाने की ओर अग्रसर होती जायेगी। इस प्रकार साधक के हृदय-सिंहासन पर निम्न प्रकृति की जगह आत्मा का अधिकार जम जायेगा और तब वह धीरे-धीरे चैतन्य को प्राप्त करने लगेगा। मैं कहाँ हूँ, मेरी साधना किस ओर चल रही है, कौन-सा कर्म भगवदनुकूल है, कौन-सा भगवान् द्वारा प्रेरित होकर आया है, किसे हटाना, किसे अपने अन्दर प्रवेश करने देना आदि बातें बताने में उसकी प्रस्फुटित अन्तरात्मा बड़ी सहायता देती है। अन्त में यही अन्तरात्मा (Psychic being) उसे जीवात्मा से मिलाते हुए परमात्मा तक ले जाती है। श्रीअरविन्द ने एक स्थान में कहा है कि यदि तुम मन-प्राण को क़ाबू में ला सके हो, अनुभवों का भण्डार भर चुके हो, यहाँ तक कि शारीरिक सिद्धियों के द्वारा लोगों को चकित करने में भी समर्थ हो चुके हो, पर यदि अन्तरात्मा को साधना का प्रधान अंग बनने का अवसर तुमने नहीं दिया तो वास्तव में महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं हुआ। इसलिए इस योग में ज्ञान का अर्थ है, विश्वेश्वर की पूर्ण सत्ता को—जो व्यक्तिगत ईश्वर बन कर मनुष्य के हृदय में पैठे हुए हैं—जीवन के प्रत्येक अंग में स्थापित करना।

अब इसमें तन्त्र का रूप देखिये। शक्ति तो श्रीअरविन्द के योग का मानों प्राण है। तान्त्रिक तन्त्र-मन्त्र की साधना के द्वारा शक्ति को जाग्रत् करता है, परन्तु पूर्णयोग यह मान कर चलता है कि शक्ति प्रत्येक मनुष्य के ऊपर स्थित है और दयामयी जननी उसको शुद्ध तथा सिद्ध बना कर प्रभु का एक सुन्दर यन्त्र बनाना चाहती है। पर मनुष्य स्वयं उन्हें अवकाश नहीं देता कि वे उसे अन्धकूप से बाहर निकालें और इसीलिए इस योग की साधना में शक्ति सर्वप्रधान है तथा शक्ति की शरण लेना इस योग का

प्रधान अंग है। इस योग में स्वयं को सम्पूर्णतः माँ के चरणों में समर्पित कर देना होता है और साधना का सारा भार उनके हाथों में सौंप कर साधक निश्चिन्त हो जाता है। जिसे माँ के चरणों में भक्ति नहीं हुई, जो स्वयं को माँ की कृपा प्राप्त करने के योग्य नहीं बना सका, माँ के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार न हो सका, मातृप्रेम के रंग में रँगने में अपने को समर्थ न बना सका, वह सुख से इस योग की यात्रा नहीं कर सकता तथा अपने बल पर प्रकृति की दुर्भेद्य माया को भेद कर उनकी दिव्य ज्योति की मन्दाकिनी को अपनी सत्ता के ऊपर प्रवाहित नहीं कर सकता। जिसे माँ के चरणों में दृढ़ विश्वास और उनकी शक्ति पर पूर्ण निर्भरता हो गयी उसने मानों विजययात्रा का वरदान प्राप्त कर लिया। अब उसे केवल असीम धैर्य तथा उत्कट तत्परता और एकाग्रता के साथ कभी तेज़ तो कभी धीमी चाल से रास्ता तय करना है। भय और निराशा को उसे लेशमात्र भी अपने पास फटकने नहीं देना चाहिये। जिसे माँ के प्रसाद की एक कणिका भी प्राप्त हो चुकी उसके लिए संसार में ऐसी कौन-सी बाधा है जिसे वह पार नहीं कर सकता? माँ हमारी मदद करने के लिए, हमारी पुकार सुनने के लिए, हमारे संकट में अपनी दिव्य झलक दिखाने के लिए सदा तैयार रहती हैं, आवश्यकता है केवल उनके चरणों को दृढ़ता के साथ पकड़ने की। जो उन्हें अपने हृदय-मन्दिर में बैठा कर उनका पुजारी बन गया उसे एक दिन वे अवश्य ही मानवीय स्तर से उठा कर दिव्य स्तर पर बैठा देंगी।

(क्रमशः)

—स्व. नारायण प्रसाद 'बिन्दु'

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षणच्छेदन-तापताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते, त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा।।

जिस प्रकार सोना रगड़ कर, काट कर, तपा कर और कूट कर—इन चार विधियों से परखा जाता है, वैसे ही पुरुष भी त्याग, शील, गुण और कर्म —इन चारों से परखा जाता है।

दाता

अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना प्रसिद्ध कवि थे, पर साथ ही एक नेकदिल इन्सान भी थे। जकात (दान) में उनका बहुत भरोसा था। वे प्रतिदिन ग़रीबों और याचकों को घर के बाहर दान दिया करते थे, पर उनका नियम था कि दान देते समय अपनी नज़रें झुका लिया करते थे, और झुकी हुई नज़रों से ही दान दिया करते थे। एक बार प्रसिद्ध कवि गंग उनसे मिलने आये तो उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति कई बार रहीम साहब से दान ले चुका है, वह उनकी नज़रें झुकी होने का फ़ायदा उठा कर बार-बार क़तार में लग जाता है और दान लेने लग जाता है।

यह देख कर कवि गंग ख़ानख़ाना जी से कविता में बोले—

सीखी कहाँ से नवाबजूँ ऐसी देनी देन?
ज्यों-ज्यों कर ऊँचे चढ़े त्यों-त्यों नीचे नैन?

नवाब साहब! दान देने का ऐसा तरीक़ा भला आपने कहाँ से सीखा? जैसे-जैसे आपका हाथ देने के लिए ऊपर चढ़ रहा है, वैसे-वैसे आपकी आँखें नीचे को झुकती जा रही हैं।

कवि के प्रश्न का उत्तर भी ख़ानख़ाना जी ने कविता में ही दिया—

देनहार कोई और है, जो देता दिन-रैन।
लोग भरम मो पे करें, ताते नीचे नैन।।

असल में देने वाला तो कोई और है (ख़ुदा) जो रात-दिन सबको कुछ-न-कुछ देता है, पर लोग व्यर्थ ही हमें दाता समझ बैठते हैं। इसलिए नज़रें झुका कर दान दे रहा हूँ।

दान देने का सच्चा अर्थ अहंकारशून्यता और प्रभु के प्रति समर्पण से ही निकलता है।

—'अखण्ड ज्योति' से साभार

वह अनुपम झाँकी

भगवान् और मानव या यूँ कहें कि परमात्मा और जीव सचमुच अभिन्न सखा हैं—आदिकाल से इस प्रिय बन्धन में प्रभु ने अपने-आपको बाँध रखा है। श्रुति भी इसकी साक्षी है। श्रुति कहती है कि वह अन्तर्यामी अपने अंक में इस देहाभिमानी को सदैव लिये रहता है।

हम जिस किसी युग में झाँक कर देख लें, भक्त और भगवान् के प्रेम के अटूट बन्धन की झाँकियाँ अवश्य पायेंगे। श्रीकृष्ण भी तो सदैव उन्हीं के रहे जो उन्हें अपना स्वीकार लें। और एक बार वे जिसके हो गये उसके सर्वथा हो रहे। उनका स्वभाव ही है, अपने-आपको अपनों से अभिन्न रखना।

इस कहानी का आरम्भ उस समय हुआ जब भीष्म पितामह ने शर-शय्या ग्रहण कर ली। यह महाप्रलयंकर युद्ध का समय था, कौरव-पक्ष ने शीघ्र ही अपने शोक को संयम में बाँधा, संग्राम-भूमि पर पितामह के गिरते ही कर्ण स्वयं कौरव सेना के अग्रभाग में आ गया। और कर्ण की सम्मति से दुर्योधन ने आचार्य द्रोण को अपने पक्ष के महासेनापति के पद पर तुरन्त प्रतिष्ठित कर दिया। कौरव-सेना में फिर से युद्ध का जोश उमड़ आया।

इधर जल्दी ही द्रोणाचार्य ने समर-भूमि में यह सिद्ध कर दिखलाया कि उन्हें महासेनापति बना कर दुर्योधन ने कोई भूल नहीं की। सचमुच युद्ध-कौशल में वे भीष्म पितामह के जितना ज्ञान और बल रखते थे। और पहले ही दिन, अर्थात् महासेनापति के पद पर आसीन होते ही उन्होंने दुर्योधन से कहा—"आज तुम युद्ध में जो चाहो वरदान मुझसे माँग लो।"

दुर्योधन ने बहुत सोच-विचार कर वर माँग ही लिया—"आप युधिष्ठिर को जीवित पकड़ कर मेरे सामने ला दें।"

दुर्योधन यह माँग लेगा यह तो द्रोणाचार्य ने सोचा भी न था। वे उसकी माँग पर चकित रह गये, फिर मन ही मन दुर्योधन की बुद्धि की दाद देने लगे। उन्होंने सोचा—"युधिष्ठिर वैसे तो सचमुच अजात शत्रु हैं, लेकिन अगर उन्हें युद्ध में हमारी सेना का कोई परम वीर किसी भी प्रकार मारने में सफल हो जाये तो अनर्थ हो जायेगा। अर्जुन तो क्रोध की लपटें बन कर दिव्यास्त्रों के प्रयोग में मान-मर्यादा सब भूल बैठेंगे। अर्जुन तो दूर, नकुल, सहदेव में से भी अगर कोई क्रोधावेश में आ जाये तो वह अकेला

ही सारी कौरव-सेना का संहार करने की शक्ति रखता है। और भीमसेन तो प्रलय मचा देंगे। युधिष्ठिर को जीवित ही बन्दी बनाना होगा। उनको मारना तो अपने समस्त कुल के विनाश को आमन्त्रण देना है। युद्ध में वे बन्दी बना लिये जायें तो फिर उन्हें द्यूत-क्रीड़ा में हराया जा सकता है, उन्हें सभी भाइयों के साथ वन में भेजा जा सकता है। यही हमारे लिए विजय पाने का सरलतम तरीक़ा होगा।"

द्रोणाचार्य को चुप्पी साधे देख दुर्योधन कह बैठा—"आचार्यप्रवर! अगर मुझे यह मालूम होता कि मेरा वर माँगना आपको इतने गम्भीर चिन्तन में डाल देगा तो कदापि अपना मुँह न खोलता...।"

दुर्योधन को अपनी बात पूरी न करने दी आचार्य ने। बोले—"तुम सच कहते हो सुयोधन। बड़े उत्साह में आकर मैंने वरदान देने को कहा था, अब अपनी शक्ति आँक कर सावधान हो गया हूँ। लेकिन युधिष्ठिर को तुम्हारे सामने जीवित पकड़ कर लाने के लिए मैंने एक उपाय ढूँढ़ निकाला है। युधिष्ठिर के साथ परछाईं की तरह अर्जुन रहा करता है, वह अर्जुन जिसे युद्ध में देवता और असुर भी पराजित करने की क्षमता नहीं रखते। अगर तुमलोग अर्जुन को कुछ समय के लिए युधिष्ठिर से अलग कर सको, उसका वह रक्षा-कवच दूर कर सको तो बस समझो कि तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध हो गया। तब बन्दी युधिष्ठिर को तुम्हारे सामने प्रस्तुत करना मेरे बायें हाथ का खेल होगा।"

दुर्योधन ने कौरव-पक्ष में घोषणा करवा दी कि द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को बन्दी बनाने की प्रतिज्ञा की है। पाण्डव-शिविर में भी यह समाचार हवा के साथ-साथ पहुँच गया। इसे सुनते ही युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—"भाई, तुम युद्ध में मेरे समीप ही रहना।"

द्रोणाचार्य के महासेनापतित्व में होने वाला पहले दिन का संग्राम अत्यन्त भयंकर रहा। पाण्डव और कौरव दोनों पक्षों ने महान् पराक्रम दर्शाया और कौरव महारथी द्रोणाचार्य की रक्षा में जी-जान से जुटे हुए थे। परिणामस्वरूप युद्धभूमि महाश्मशान-भूमि बनती जा रही थी।

दोपहर ढल चुकी थी। अभी सूरज ढलने में कुछ देर थी और द्रोणाचार्य अपने लक्ष्य, अर्थात् युधिष्ठिर की ओर बढ़ रहे थे। युधिष्ठिर के आस-पास के सभी रक्षकों को पराजित कर वे ठीक उनके सम्मुख आ पहुँचे। उधर

अर्जुन विकट युद्ध में उलझ कर कुछ दूर हो गये थे। यह देख कर कौरवों की सेना में हर्षनाद उमड़ पड़ा। उनके हृदय में यह ख़ुशी समा न रही थी कि "अब आचार्य युधिष्ठिर को बन्दी बना कर हमारे महाराजाधिराज दुर्योधन को सौंप देंगे और हम युद्ध में विजयी हो जायेंगे।"

द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को बाँधने के लिए धनुष पर नागपाश चढ़ाया नहीं कि दूसरी ओर से श्रीकृष्ण ने सहसा रथ मोड़ कर अर्जुन से कहा —"वत्स, जल्दी करो, आचार्य का वार काट दो।"

देखते-न-देखते द्रोणाचार्य का नागपाश दो टुकड़े हो गया। उन्होंने देखा, यह तो सव्यसाची अर्जुन का बाण है। वे अनायास पुकार उठे—"अरे, अर्जुन आ गया!" उनकी घोषणा सुन कौरव-सेना में आतंक छा गया। दूसरी ओर पाण्डव-सेना में भी किसी ने कहा—"अरे, अर्जुन आ गये।" और यह सुनते ही पाण्डव-सेना में उत्साह की लहरें दौड़ गयीं। भागते हुए सैनिक लौट पड़े और अस्त-व्यस्त पाण्डव-सेना जम कर लड़ने लगी।

सचमुच अर्जुन आ गये। सारथि श्रीकृष्ण ने नन्दिघोष रथ सीधा युधिष्ठिर की दिशा में हाँक दिया था और देखते-न-देखते अर्जुन ने वह संहार प्रारम्भ किया कि पृथ्वी शत्रुओं के शव से पट गयी। कौरव-सेना में त्राहि-त्राहि मच गयी। आचार्य द्रोण लक्ष्य के समीप पहुँच कर भी बहुत दूर जा छिटके। सूर्यास्त ने युद्ध बन्द करवा कर कौरवों को सुरक्षा प्रदान की।

रात के प्रथम प्रहर में अर्जुन अपने सखा-गुरु श्रीकृष्ण के पास जा बैठे। उन्हें प्रणाम कर, उनके कर-कमलों को हाथ में लेकर पूछ बैठे— "गोविन्द! द्रोणाचार्य पृथ्वी के किसी भी योद्धा से कम नहीं हैं। अजेयप्रायः हैं। वैसे भी युद्ध में जय-पराजय तो अनिश्चित रहती है। मैं जानना चाहता हूँ कि कल को अगर मैं किसी अमोघ अस्त्र से परलोक सिधार जाऊँ तो आप क्या करेंगे?"

गोविन्द ने अर्जुन के दोनों हाथों को अपने सीने में भींच कर कहा— "धनञ्जय! तुम भला ऐसा क्यों सोचते हो। मैं तुम्हारे साथ होऊँ और तुम पर कोई सांघातिक वार करे, ऐसा शूर न सृष्टि ने उत्पन्न किया है न कर सकेगी। वत्स, ऐसा कोई अस्त्र नहीं है जो मेरे इस वचन को अन्यथा कर सके। स्वयं भगवान् प्रलयंकर भी पिनाक लेकर आ जायें फिर भी मेरे प्राण-सखा अर्जुन को मारा नहीं जा सकता। वत्स! यह पृथ्वी रहे या टुकड़े-टुकड़े

हो जाये, लेकिन मेरे रहते तुम्हें मारने का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो सकता।"

अर्जुन को रोमाञ्च हो आया। शब्द गले में अटक गये। बहुत प्रयास के बाद रुँधे गले से बोले—"जानता हूँ प्रभो! लेकिन फिर भी कभी-कभी अनहोनी भी घट जाती है। ऐसा हो जाये तो तुम क्या करोगे मेरी मृत्यु के पश्चात् सखा?"

भगवान् श्रीकृष्ण काँप उठे, उनका हृदय मानव की तरह धड़कने लगा, आँखें पसीज उठीं और आर्त स्वर में क्रन्दन-सा कर बैठे—"वत्स! यदि यह असम्भव कभी सम्भव हो जाये तो सृष्टि की सारी मर्यादाओं को मैं भंग कर दूँगा। तब मैं चक्र उठाऊँगा और किसी के भी वरदान एवं महास्त्र की मर्यादा की ज़रा भी चिन्ता किये बिना सम्पूर्ण कौरव-पक्ष को पलक झपकते नष्ट कर दूँगा। चाहे उनकी रक्षा करने सभी देवता या दानव उतर आयें, मेरा सुदर्शन चक्र उन सबको समाप्त कर देगा। सबका काम तमाम कर युधिष्ठिर को सिंहासन पर बिठा कर उनका तिलक कर दूँगा..."

अर्जुन अवाक्, पत्थर की भाँति निस्पन्द खड़े रहे। श्रीकृष्ण उसी आवेग में बोलते रहे—"प्रिय, इतना सब करने के बाद अपने सखा के शरीर के साथ मैं स्वयं चितारोहण करूँगा। अर्जुन! कृष्ण की प्रतिज्ञा है कि वह तुमसे रहित पृथ्वी पर नहीं रहेगा, तुमसे पहले धरा का त्याग कर देगा। जहाँ अर्जुन नहीं वहाँ कृष्ण कदापि नहीं।"

अर्जुन ने श्रीकृष्ण के दोनों चरणों को अपने अंक में लिया और उनसे लिपट कर अपने अश्रुओं से उन्हें धोने लगे। उन पद्मलोचन का हृदय तो पहले ही पसीज उठा था। दोनों के शरीर एक-दूसरे के आँसुओं से अभिषिक्त हो रहे थे।

इस पार्थिव दृश्य को देख कर धरती-आकाश रोमाञ्चित हो उठे। धरती से मूक वाणी ऊपर उठ रही थी—"भगवान् की महिमा हो तो ऐसी।" आकाश से देवताओं का असीस बरस रहा था—"सच्ची भक्ति की अनुपम झाँकी देखनी हो तो यह रही।"

भक्त और भगवान् के परम मिलन से धरती और आकाश भी सदा के लिए एकाकार हो गये।

'पुरोधा' फ़रवरी २००१ से —वन्दना

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

– श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st May 2018

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2017-18

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363